उसकी अवहेलना करते हैं। इसी आशय से कई लोग भारतीय संस्कृति का आदर करते हुये भी हिन्दू संस्कृति से चिढ़ते हैं। यदि प्रमाण की कसौटी पर इन बातों का वे विचार करें, तो लौकिक-पारलौकिक उन्नति, उनके साधनों तथा तदुचित देश, काल का ठीक ठीक ज्ञान हो सकता है, अन्यथा भ्रान्ति और राग-द्वेष ही हाथ लगता है।

अतएव जो लोग आगे बढ़कर धर्म की परवाह न करके कहते हैं कि आस्तिक हो, नास्तिक हो, चार्वाक हो, वेदान्ती हो, यहाँ का सभी निवासी हिन्दू है। यह बात प्रादेशिक दृष्टि से सत्य हो सकती है, परन्तु जब धर्म सम्बन्ध आवश्यक नहीं, तब मुसलमान, ईसाई भी वहाँ का निवासी होने मात्र से हिन्दू कहा जायेगा, उसके मानने-न-मानने का कोई प्रश्न ही नहीं आता। जो चार्वाक या नास्तिक है, उसके लिए पुण्यभूमि भी पृथक् हो सकती है, जैसे अधम-उत्तम कोई हरिण हरिण ही होगा, वैसे ही किसी देश का शेर या हाथी उस देश के नाम से ही व्यवहृत होगा, वह चाहे अधम हो या उत्तम। यदि वेदादि शास्त्रों एवं तदुक्त धर्म-ब्रह्मादि तत्त्वों की विशेषता हिन्दुत्व से सम्बन्धित करना चाहते हैं, तो फिर उनकी उपेक्षा करके ही हिन्दुत्व की परिभाषा नहीं की जा सकती। वेदादि शास्त्र, रामायण, भारत, इतिहास, मन्वादि धर्मशास्त्रों को एक समान आधार मानकर उन्हीं की मध्यस्थता से मतभेद मिटाकर ही कपोतों एवं मधुमक्षिकाओं के समान एकमत होकर सफलता प्राप्त की जा सकती है। गुणाधान, दोषापनयनरूप संस्कार के लिये मिले-जुले गुणों-अवगुणों का पहचानना - विवेचन करना बिना वेदों के नहीं हो सकता। इसीलिये शास्त्रों में हिन्दू के साथ वेद तथा धर्म का सम्बन्ध अनिवार्य बतलाया गया है। "हिन्दुधर्मप्रलोप्तारो जायन्ते चक्रवर्तिनः।" "हीनञ्च दूषयत्येव हिन्दुरित्युच्यते प्रिये" (मेरुतन्त्र, प्रकाश २३), "यवनैरवनिः क्रान्ता हिन्दवो विन्ध्यमाविशन्। कलिना वेदमार्गोऽयं बलिना कवलीकृतः" (शार्गंधरपद्धति), "बलिना कलिनाऽऽच्छन्ने धर्मे कवलिते कलौ। यवनैरवनिः क्रान्ता हिन्दवो विन्ध्यमाविशन्" (कालिकापुराण), 'हिनस्ति तपसा पापान् दैहिकान् दुष्टमानसान्। हेतिभिः शत्रुवर्गञ्च स हिन्दुरभिधीयते" (पारिजातहरण नाटक), उपर्युक्त सभी वचनों के आधार पर वेदादि शास्त्र एवं तदनुसारी निबन्धविश्वासी धर्मनिष्ठ ही या तदाधारित राजकीय नियमों, कानूनों से शासित ही हिन्दू सिद्ध होता है। विचारस्वातन्त्र्य मान्य होने पर भी वेदादि शास्त्रानुयायियों में आचारस्वातन्त्र्य नहीं है। विचारों में भी जो विचार प्रमारूप है, उसे ही कार्यान्वित करने का अधिकार होना चाहिये। इसलिए आचार की दृढ़ता का महत्त्व है। बालक अपने विचारों के अनुसार सांप और आग को पकड़ना चाहता है, परन्तु उसे वैसा नहीं करने दिया जा सकता। सभी लोग प्रायः अपने विचारों और आचारों को ही श्रेष्ठ तथा अन्य लोगों के आचार-विचारों को अपकृष्ट समझते हैं, इसीलिये सब पर उसी को लादना चाहते हैं। भले ही वे हितैषिता के नाते ही ऐसा करते हों, फिर भी ऐसी हितैषिता लोगों के

न त्यजेद्धर्म मर्य्यादामपि क्लेश दशांश्रितः।
हरिश्चन्द्रोहि धर्मार्थो सेहे चण्डालदासताम् ॥ —आचार्य क्षेमेन्द्र

लिये अवश्य उद्वेजक होती है। विचार के द्वारा किसी को किसी सिद्धान्त में निष्ठा हो जाये यह दूसरी बात है।

कुछ लोगों का मत है कि 'सम्' और 'कृति' का अर्थ सदाचार है। समान विचार से अनुप्राणित प्राणिसमूह सभा है। सभा में दक्ष (साधु) पुरुष 'सभ्य' कहा जाता है। सभ्य का भाव, विचार सभ्यता कहलाती है। कुछ सज्जन बाह्य चाकचिक्य को सभ्यता कहते हैं। भोजन, पान, विश्राम, व्यवाय, गमनागमन के चमत्कारपूर्ण, सुन्दर, रोचक, आकर्षक प्रकार और कला, स्वच्छता, वस्तु, भोजन, पात्र, मकान, वस्त्र, यान की चमक-दमक को सभ्यता कहते हैं। संगीतकला, चित्र, शिल्प, राजनीति आदि की विशेषताओं को संस्कृति कहते हैं।

प्रथम अर्थ संस्कृति, सभ्यता इन दोनों संस्कृत के शब्दों के आधार पर है और अंशतः ठीक है, परन्तु दूसरा अर्थ 'कल्चर', सिविलाइजेशन्' इन अंग्रेजी शब्दों के आधार पर किया गया है। खेत जोतना, बोना और परिष्कृत करना तथा सभा में बैठने योग्य साफ-सुथरा बनाना ही उन शब्दों का अभिप्राय हो सकता है। प्रथम व्याख्या में यदि कृति का अर्थ बाह्यचेष्टा ही लिया जाये तभी विचार संस्कृति से पृथक् अवशिष्ट रह सकता है। पर यदि देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार की प्रत्येक चेष्टा या कर्म को 'कृति' कहा जा सकता है, तब तो सम्यक् आचार-विचार सभी संस्कृति पद के ही अर्थ हो जाते हैं। सभ्यता के 'तल्' प्रत्यय का अर्थ भाव ही है, परन्तु भाव शब्द का अर्थ तो सत्ता है, विचार नहीं। प्रकृतिजन्य पदार्थबोध में प्रकारीभूत अर्थ ही भाव कहा जाता है, फिर भी घटत्व का घटभाव अर्थ है। उसका पर्य्यवसान घटाकारेण परिणत मृत्तिका में ही हो जाता है। फिर संस्कृति के 'क्तिन्' का भी तो भाव ही अर्थ है। फलतः अनादि, अपौरुषेय वेद एवं तदाधारित शास्त्रों के अनुसार आचार, विचार, परम्परा को संस्कृति, सभ्यता मानना असंगत नहीं। आस्तिक्य, आत्मवाद हिन्दु धर्म के मुख्य स्तम्भ हो ही सकते हैं।

यदि यह जगत् जड़ प्रकृति की हलचल, विद्युत्कणों के संघर्ष या अकस्मात् परमाणुओं के एकत्रित होने से ही नहीं बना, यदि इसका रचयिता एक सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है, तो उस सर्वज्ञ के नित्य विज्ञान में अनुविद्ध वैदिक शब्दों को नित्य मानना ही होगा। योग, साङ्ख्य की दृष्टि से भी चित्तसत्व सर्वार्थविभासनसमर्थ है। तामस आवरण से वह प्रतिरुद्ध रहता है। प्रमाणवृत्ति एवं योगाभ्यास से जितना तामसभाव का बाध होता है, सत्व विकसित होता है, उतना ही ज्ञान व्यापक हो जाता है। सर्वज्ञ परमेश्वर तो सर्वदा ही सर्वज्ञ रहता है, परन्तु सृष्टिकाल में तामस दोषों का कम विस्तार होने से सत्वाधिक्य के कारण ज्ञान, बल, वीर्य की अधिकता पायी जाती है। योगज विशेषता भी प्रसिद्ध ही है। सर्वज्ञ परमेश्वर का वह वेद ही विश्वव्यवस्था का विधान है। परमेश्वर उसे ही

पात्रे दानं मतिः कृष्णे माता पित्रोश्च पूजनम् ।
श्रद्धा बलिर्गवां ग्रासः षड्विधं धर्मलक्षणम् ॥

ब्रह्मदेव तथा अन्यान्य ऋषियों को प्रदान करते हैं। न केवल वैदिक ज्ञान ही, अपितु वैदिक शब्द भी अपौरुषेय एवं नित्य हैं। संस्कृत के शुद्ध शब्द भी नित्य ही हैं। वैदिक ज्ञान और शब्द तो परम्परा से प्राप्त होते ही हैं। सामान्यतया मूल ज्ञान और शब्द भी परम्परा से ही प्राप्त होते ही हैं। इसीलिए शिक्षा तथा सम्पर्क से ही ज्ञान और शब्द प्राप्त होते हैं। वैदिक शब्द और तदुक्त कर्म जन्ममूलक जाति के आधार पर व्यवहृत होते हैं। जैसे किसी विशिष्ट रस का निर्माण और स्थापन किसी विशेष यन्त्र और विशेष पात्र की अपेक्षा रखता है, अन्यत्र विकृत हो जाता है, वैसे ही किसी विशिष्ट प्रकार के रजोवीर्यनिर्मित विशिष्ट रक्त तथा विशिष्ट बनावट वाले कण्ठ-ताल्वादि की अपेक्षा से ही वेद का अध्ययन और वैदिक कर्म का अनुष्ठान हो सकता है। अन्यत्र लाभ के बदले हानि होती है। इसीलिये मुख, बाहु, ऊरु, पादज ब्राह्मणादि को जन्मना विलक्षणता मानकर वर्णाश्रमधर्म हिन्दू संस्कृति में मान्य होता है। आजकल के वैज्ञानिकों ने भी विभिन्न देशों के मनुष्यों में रंग, रूप, बनावट के भेद से कुछ जाति भेद माना है, साथ ही उनके रक्तों का भी वैलक्षण्य माना है। वह वैलक्षण्य प्रथम चार एवं नव, फिर सैकड़ों प्रकार का मान लिया गया है। उनके उच्चारण में भी भेद स्वाभाविक हो गया है, जैसे कई रक्त के लोगों से शुद्ध दकार का उच्चारण नहीं बन पाता। जन्मना वर्णव्यवस्था तो इससे भी सूक्ष्म है। एक देश में उत्पन्न होने पर भी, एक रूप, रंग तथा बनावट के होने पर भी सूक्ष्म ब्रह्मणादि की मुख, बाहु आदि शक्तियाँ और विशेषताएँ शास्त्र, शिष्टोपदेश तथा परम्परा से ही विदित होती हैं। यही जन्मना वर्णाश्रमानुसारी भारतवासी हिन्दू, आर्य्य या भारतशब्दवाच्य है। आज की प्रसिद्ध जातियाँ, उनकी संस्कृतियाँ तथा धर्म और उनकी दुनिया ही छः-सात हजार वर्ष के भीतर के हैं। परन्तु भारतीय संस्कृति और धर्म तो सनातन हैं, अनादि एवं अनन्त हैं। अब तो पदार्थविज्ञानियों ने चालीस लाख वर्ष की, भूगर्भविशेषज्ञों ने भूमिस्तरों और समुद्रक्षारता के अनुसार दस करोड़ तथा रेडियम के तत्ववेत्ताओं ने सात अरब, पचास करोड़ वर्ष की पृथ्वी को बतलाया है। वैदिक सिद्धान्त में तो स्वाप-जागर-परम्परा के समान सृष्टि की भी बहुत बड़ी आयु बतलायी है। चार लाख बत्तीस हजार वर्ष का कलि, उससे द्विगुण द्वापर, उससे द्विगुण त्रेता, उससे द्विगुण कृतयुग, ऐसी हजार चतुर्युगी का दिन, उतनी ही बड़ी रात्रि और ऐसी दिन-रात की सौ वर्ष की आयु वाला ब्रह्मा होता है। सहस्र ब्रह्मायु विष्णु की एक घड़ी होती है। १२ लाख विष्ण्वायु रुद्र की आधी कला होती है। इस तरह अनादि, अनन्त हिन्दू वैदिक संस्कृति के सामने अपरिगणित बार प्रपञ्च की सृष्टि और प्रलय होते ही रहते हैं।

(संस्कृति के बारे में महाराज श्री ने पांच लेख लिखे थे। उनको एकत्र कर दिया है। इससे पाठक को भारतीय संस्कृति का स्पष्ट ज्ञान होगा)

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मंत्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुखः दुःखेत्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥" —विदुर

आस्तिकवाद और विश्वशान्ति

[आज भौतिकवाद में आकण्ठ निमग्न वर्तमान मानव समाज धर्म और ईश्वर के प्रति एक अनास्था सी व्याप्त है। प्राचीन भारतीय साधारणतः धर्मनिष्ठ परलोक एवं ईश्वर के प्रति दृढ़ आस्थावान होता था अतः अन्तर बाह्य उभय प्रकार से प्रायः सन्तुष्ट रहता हुआ शांतिपूर्वक सहज स्वाभाविक जीवन यापन कर लेता था। परन्तु आज स्थिति ठीक इसके विपरीत हो गई है, जिसके फलस्वरूप चहुं ओर अशांति, असंतोष, आतंक, घृणा एवं हिंसा का प्रचार प्रसार हो रहा है। स्वामी जी ने बड़ी सरल सुबोध तर्कयुक्त शैली में प्रतिपादित किया है कि आस्तिकवाद से ही विश्व में शांति, सुव्यवस्था एवं न्याय की स्थापना हो सकती है। प्रजा सन्तुष्ट रह सकती है। उनके वचनों का पालन कर पाठक लाभ उठावें।]

"असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत्।
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः॥"

समस्त विश्व का अधिष्ठानभूत परब्रह्म परमात्मा नहीं है, परलोक नहीं है तथा उसकी प्राप्ति का साधन धर्म एवं तदबोधक प्रमाणभूत शास्त्र नहीं है ऐसा समझने वाला व्यक्ति स्वयं असत् हो जाता है। उसके देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहङ्कार की समस्त चेष्टाएं पशुओं की चेष्टाओं के समान ही होती हैं। उसके लिए पशुता एवं मानवता में कुछ भी भेद नहीं रह जाता, क्योंकि आहार निद्रा भय और मैथुन यह सब तो मनुष्यों के समान ही पशुओं में भी होते हैं, धर्म ही एक ऐसी वस्तु है जोकि मनुष्य को पशु से विलक्षण सिद्ध करती है। यदि ईश्वर एवं धर्म की भावना मनुष्य में न हुई तब तो वह भी पशुतुल्य ही है। इतना ही क्यों, वह तो पशु से भी निकृष्ट कोटि में परिगणित होता है। इसी लिए महानुभावों ने उसे उसे शृंगपुच्छविहीन पशु कहा है—'सो नर पशु बिनु पूंछ विषाना'। मशक और मक्षिका आदि के उपद्रवों को दूर करने में पुच्छादि से पशु को सहायता मिलती है परन्तु शृङ्ग-पुच्छविहीन पशु को अधिकाधिक सन्ताप ही सन्ताप रहता है। इसी तरह धर्मविहीन मनुष्य की स्थिति होती है।

धर्मं शनैः संचिनुयाद वल्मीकि इव पुत्तिकाः।
परलोकसहायार्थं सर्वभूत्यान्य पोडयन्॥ —मनुस्मृति

परमात्मतत्त्व का अस्तित्व निश्चित रहने पर ही उसकी प्राप्ति की रुचि एवं उत्कण्ठा हो
सकती है और तभी धर्म का अनुष्ठान और पाशविक उच्छृङ्खलता मिटाने का प्रयत्न हो सकता है।
धर्मानुष्ठान से ही सांसारिक उन्नति भी हो सकती है। साम्राज्य, स्वराज्य, धनधान्यादि सभी सुख एवं
तत्सामग्रियाँ धर्म के ही फल हैं। धर्म के न रहने पर वे कुछ भी नहीं मिलतीं। ऐसी स्थिति में प्राणी
तृण के समान नगण्य, अतएव असत्प्राय हो जाता है। जब तक प्राणी में कर्त्तव्याकर्त्तव्य, हेय-उपादेय
धर्म-अधर्म और आत्मा-अनात्मा की विवेक बुद्धि रहती है, तभी तक वह सच्चा पुरुष कहलाने का
अधिकारी होता है। उक्त विवेक बुद्धि के सम्पन्न होने या नष्ट हो जाने पर पुरुष कहलाने का अधि-
कार भी नहीं रहता। अतएव बुद्धि के नाश से पुरुष नाश कहा गया है—'बुद्धिनाशात्प्रणश्यति'।
यों भी जैसी भावना से भावित मतिवाला प्राणी होता है, वैसी ही उसकी स्थिति हो जाती है। अतः
'नहीं हैं परमेश्वर', 'नहीं है ब्रह्म'—ऐसी भावना वाला व्यक्ति 'नहीं' ही जैसा हो जाता है। इसके
विपरीत 'अस्ति ब्रह्म' ऐसी बुद्धि वाला पुरुष सत् (सन्त) हो जाता है।

'सर्वाधिष्ठान परब्रह्म तत्त्व है' ऐसी बुद्धि होने से उसकी प्राप्ति के लिए धर्म एवं तद्बोधक
शास्त्र का अवलम्बन करना होता है। तदर्थ पाशविक उच्छृङ्खल व्यापारों का परित्याग करना पड़ेगा।
ऐसी स्थिति में अधर्म-परिवर्जन अवश्य होगा, जिससे शूकर-कूकरादि योनियों की प्राप्ति नहीं होती
धर्म के सेवन से दिव्य योनियों की प्राप्ति होती है, ब्रह्मनिष्ठ होने से प्राणी ब्रह्म ही हो जाता है।
'अस्ति ब्रह्म' ऐसी बुद्धि रखने वाला अस्ति ही, सन्त ही हो जाता है। अतएव श्रुतिमाता ने आज्ञा
की है कि 'अस्तीत्येवेपिलब्धव्यः।' ईश्वर और परलोक में विश्वास रखने वा व्यक्ति अत्याचार, अन्याय
और धर्म से डरता है। जब प्राणी साधारण व्यक्ति के सामने भी पाप करते हुए संकोच करता है,
तब सर्वान्तरात्मा, सर्वसाक्षी, सबके हार्दिक भाव-कुभाव के भासक भगवान् से कौन से दोष एवं पाप
छिपाये जा सकते हैं? इस दृष्टि से आस्तिकवाद ही विश्व में शांति एवं सुव्यवस्थापन कर
सकता है।

पाणिनि ने "अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः' इस सूत्र से यह दिखलाया है कि—

"अस्ति दिष्टं परलोक इत्येत्रं मतिर्यस्यासावास्तिकः,
नास्ति दिष्टं परलोक इत्येवं मतिर्यस्य स नास्तिकः।

परलोक है ऐसी बुद्धि जिसकी है, वह आस्तिक है। परलोक नहीं है ऐसी जिसकी मति है,
वह नास्तिक है किसी न किसी रूप में परलोक पर विश्वास करने वाले लोग परलोक में अशान्ति
दुःख न हो इसलिए पापों और अन्यायों से बचने का भाव अवश्य ही रखेंगे। मनु ने वेदनिन्दक को ही
नास्तिक कहा है—'नास्तिको वेदनिन्दकः।' फिर भी उपर्युक्त पाणिनिमत से मनु की उक्ति का विरोध

नामुत्रहि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्र दारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः॥ मनुस्मृति

नहीं है। परलोक होने न होने की कल्पनाएं यदि निराधार हैं, तब तो आस्तिक-नास्तिक शब्दों का अर्थ भी काल्पनिक ही होगा। अतः परलोकविषयिणी भ्रमात्मिका मति जिसकी है, वह आस्तिकाभास है। प्रमारूपा मति जिसकी है, वही आस्तिक है। परन्तु जब परलोक के स्वरूप एवं तत्प्राप्ति के स्वरूप वह नास्तिक है। किसी न किसी रूप में परलोक पर विश्वास करने वाले लोग परलोक में अशांति, में अनेक मतभेद उठते हैं, तब कौन माना जाय और कौन न माना जाय, है एक कठिन समस्या है। यदि इस विषय के सभी ग्रंथ या ग्रंथकार सर्वज्ञ समझे जायें, तो मतभेद क्यों? यदि कोई ही सर्वज्ञ हैं, तो 'कौन सर्वज्ञ कौन अल्पज्ञ' इसका निर्णय कैसे हो? अतः अनादि जीव, जगत् पर शासन करने वाले अनादि परमेश्वर की शासनपद्धतिरूप अनादि वेदों को ही मुख्य प्रमाण मानना उचित है। उनको संसार के सभी ग्रंथों से प्राचीन आज भी माना जा रहा है। वैदिकों की दृष्टि से वेद अपौरुषेय हैं,, अतः भ्रमप्रमादादि पुरुषाश्रित दोषों से उन्हें दूषित नहीं कहा जा सकता। वे सहजश्वास के समान बुद्धि एवं प्रयत्न की अपेक्षा नहीं करते, अतएव अकृत्रिम हैं। उन्हीं से सच्चे परलोक एवं उसकी प्राप्ति के साधनों एवं प्रतिबन्धों को ठीक ठीक जाना जा सकता है। उनको न मानने वाला ठीक परलोक नहीं समझ सकता। अतः वेद का सम्मान करने वाला आस्तिक और उन्हें न मानने वाला नास्तिक होता है।

सभी व्यक्तियों, समाजों एवं राष्ट्रों को जब तक हृदय से परलोक का भय और ईश्वर का डर न होगा, तब तक अवश्य ही उनमें सङ्घर्ष रहेगा। दूसरों के क्षेत्र, वित्त, कलत्र, भवन, हस्ति, अश्व और रथ आदि आनन्द सामग्रियों को देखकर ईर्ष्या होना स्वाभाविक है। गिरोह बनाकर उनके विरुद्ध आन्दोलन खड़ा करके उनके छीनने का प्रयत्न होना भी स्वाभाविक है। इन्हीं भावनाओं से साम्यवाद, समाजवाद आदि की सृष्टि होती है। परन्तु आस्तिकवाद की यही विशेषता है कि वह सभी प्राणियों को अपनी-अपनी स्थिति में सन्तुष्ट रखता है।

धर्मभावना से मजदूर, मिल मालिक, किसान, जमींदार, उत्तम, मध्यम और निम्न सभी श्रेणियों के सभी प्राणियों के लिए शांति, संतोष के साथ अपनी-अपनी उन्नति का मार्ग खुला रहता है। धर्म सम्बन्धहीन सम्पूर्ण वाद संकीर्णता के ही कारण होते हैं। किसी में धनिकों के ही लिए स्थान है, मजदूरों तथा किसानों को नहीं, किसी में मजदूरों को ही स्थान है, पूंजीपतियों को नहीं। परन्तु आस्तिकवाद में धर्म के बन्धन में सभी बँधे होते हैं, अतः कोई भी किसी पर ज्यादती नहीं कर सकता, इसीलिए महर्षियों ने सर्वशासक उग्र क्षत्र का भी शासन करने के लिये धर्म की आवश्यकता समझी। सैनिकशक्तिसम्पन्न सम्राट् किंवा महाबलवान् कोई अन्य व्यक्ति ही निर्बल प्राणियों के वित्तों एवं सुन्दर कलत्रों पर आक्रमण कर सकता था, परन्तु एक धर्म का ही भय उन्हें रोकता है।

धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च।
अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः॥

आज भूखों के गिरोह पूंजीपतियों और राजाओं से धन छीनने के लिए आन्दोलन रचते हैं। पूँजीपति मर मिटना पसन्द करते हैं, परन्तु कुछ देना नहीं चाहते। पहले की स्थिति विलक्षण थी। धनिकवर्ग सम्पूर्ण सम्पत्ति को परमेश्वर की धरोहर मानते थे, अपने को केवल रक्षक या कर्मचारी मानते थे। धर्म रक्षा, राष्ट्ररक्षा एवं भूखों के कष्ट दूर करने में अपनी सम्पत्ति का उपयोग कर अपने को धन्य-धन्य समझते थे। इतना ही क्यों, गरीब से गरीब भी भोजन के समय अतिथि की प्रतीक्षा करते थे, अतिथि मिलने पर आदर से सत्कार करते थे, न मिलने पर खिन्न होते थे। अतिथि पाने के लिए देवताओं से प्रार्थना करते थे, घर में धन होने पर बहुदक्षिण यज्ञों का अनुष्ठान का प्रचार रहता था। रन्तिदेव विकट क्षुधा से पीड़ित रहकर भी श्वपाक एवं श्वान तक का आतिथ्य करने से उपरत नहीं हुए। स्वयं भूखे रहकर भी अन्न से दुःखी लोगों के क्षुधादि कष्टों को मिटाया जाता था। प्राणिमात्र दूसरों के कष्ट दूर करने तथा सुख शांतिसम्पादन के लिए व्यग्र रहते थे। सभी दूसरों को देना ही चाहते थे, लेने से सभी बचना चाहते थे। प्रतिग्रह में समर्थ होकर भी लोग प्रतिग्रह से बचने का ही प्रयत्न करते थे। आज भी ग्रामीण, खानदानी शूद्र तक दूसरे की वस्तु लेने हिचकता है। वह अपनी गाढ़ी कमाई के ही धन का उपयोग करना चाहता है, बिना परिश्रम संतमेत की वस्तु तथा बिना हक की वस्तु को हराम की वस्तु समझता है। सब जीव परमेश्वर के अंश, परमेश्वरस्वरूप ही हैं इस तरह की भावना से सर्वत्र सहज भ्रातृभाव या परमात्मभाव फैला रहता था। देनेवाले सर्वथा देने का प्रयत्न करते थे, लेने वाले बचते थे। संसार में 'गृहाण गृहाण - नेति नेति' 'ले लो-नहीं नहीं' का कोलाहल मचा रहता था।

आज ठीक उसके विरीत 'देहि देहि- नेति नेति' 'दो दो-नहीं नहीं' का कोलाहल मच रहा है। भूखों का गिरोह कहता है --हम लेंगे और अवश्य लेंगे, लूट-खसोटकर, मार-काटकर लेंगे ही। पूँजीपति कहते हैं - हम चाहें मर जाएं, जहन्नुम में चले जाएं, परन्तु कुछ भी नहीं देंगे। आस्तिकवाद में सम्राट लोग भी राजसूय, अश्वमेध, सर्वस्वदक्षिण आदि यज्ञों में अपने धन को प्रायः वितरण करते थे। यज्ञों में धन, रत्न, वस्त्र, अन्न आदिकों का इतना दान होता था कि याजक तृप्त हो जाते थे। रामचन्द्र के यज्ञ में इतना दान हुआ कि महाभागा वैदेही के हाथ में केवल सौभाग्यचिह्न लाल डोरा ही रह गया। इस रूप से आवश्यक शास्त्रविरुद्ध सभी वाद आस्तिकवाद में आ जाते थे।

जब तक शुद्ध आस्तिकवाद चलता रहता है, तब तक राजा, प्रजा और अमीर, गरीब सभी एक दूसरे का हित चाहते हुए सुखमय जीवन व्यतीत करते हैं, दूसरों की वस्तुओं को देखकर उन्हें ईर्ष्या नहीं होती। वे जानते हैं कि बिना हक और बिना परिश्रम के दूसरों की सम्पत्ति को लोभ

आहार निद्रा भय मैथुनञ्च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिस्समानाः ॥ — सम्राट-भर्तृहरि

की दृष्टि से देखना पाप है। अन्यायपूर्वक दूसरों का माल हराम का माल है, संसार में सब अपने किये हुए कर्मों का ही फल भोगते हैं। अपने कर्मों से ही कोई सम्राट, स्वराट्, धनी-मानी होता है, अपने कर्मों से ही कोई दीन दरिद्र एवं राग-द्वेषपरिलुप्त होता है। कर्मों से ही कोई शूकर, कूकर, कीट और पतङ्ग बनते हैं, कोई देवता, दानव और मानव होते हैं। आस्तिक दरिद्र यह सोचता है कि अपने कर्मों से ही हम दरिद्र हैं, अपने कर्मों से ही अमुक अमुक लोग धनवान हैं। किसी के धन पर, सुख-सामग्री पर ईर्ष्या करना पाप है, उसे लोभ की दृष्टि से देखना अनुचित है। धन की इच्छा से धर्म और उपासना में ही लगना उचित है।

लोक में न्याययुक्त मार्ग से लखपति, कोटिपति, अरबपति आदि बनने में कोई भी आपत्ति नहीं रहती, परन्तु चोरी, डाका या अन्याय से लक्षपति बनने की भावना वाले प्राणी को हवालात की हवा खानी पड़ती है। इसी तरह सन्मार्ग से धनवान होने में कोई बाधा नहीं परन्तु विमार्ग सेधनी बनने का प्रयत्न कभी भी इष्ट नहीं होता।

एक पिता के चार पुत्र हैं। पिता ने अपनी सम्पत्ति चारों के लिए बराबर विभक्त कर दी। उनमें से कोई पुरुषार्थ द्वारा बढ़कर कोटिपति बन जाता है और कोई प्रमाद से कौड़ीपति हो जाता है ऐसी स्थिति में पुनरपि कौड़ीपति का कोटिपति से धन लेकर उसकी बराबरी का प्रयत्न करना सिवा ईर्ष्या के और कुछ भी नहीं।

वस्तुत: धर्म के ह्रास हो जाने पर सर्वदा ही सङ्घर्ष होते हैं और समाज को अनेक शासन-पद्धतियाँ ढूँढनी पड़ती हैं यह एक तरह का चक्र चल पड़ता है। पूँजीपतियों और राजाओं में धर्म-भावना की कमी होने से इन्द्रियों पर स्वाधीनता नहीं रह जाती, भोग-विलास में अधिक आसक्ति होने से शरीर एवं इन्द्रियों में निर्बलता आ जाती है। मन और बुद्धि भी उचित संकल्प तथा निर्णय में समर्थ नहीं रह जाते। धर्मबुद्धि की कमी से संयम की भी कमी हो जाती है। सम्पत्ति को भगवान की धरोहर समझकर जनता के हित में उसका उपयोग न करके अपने भोगों में लगाया जाता है। ऐसी स्थिति से राजा-प्रजा और अमीर-गरीब में मनमुटाव होने लगता है। भोगासक्त होने से निर्बल अमीरों में सन्तानों की कमो होने लगती है। निम्नश्रेणी के अयोग्य दत्तकों में प्राचीन परम्परा का उदारभाव न होने से वे और भी न्याय और संयम की उपेक्षा करके भोगासक्त होते हैं। प्राचीन परम्परा की रक्षा के लिए ही वेन के शरीर को मन्थन करके पृथु के आविर्भाव का प्रयत्न किया गया, किसी दूसरे को शासनसूत्र नहीं दिया गया था।

अस्तु, इस तरह भोगासक्त निर्बल धनपतियों में सन्तानों की कमी और गरीबों में संतानों में अधिकता हो जाती है। धर्मविमुख अमीर गरीबों से न्याय अन्याय का विचार न करके धनसंग्रह

धर्मे चार्थे च कामे च धर्म एवोत्तरो भवेत्।
अस्मिल्लोके परे चैव धर्मात्मा सुखमेधते ॥ —महाभारत

करते जाते हैं। उधर अधिक सन्तान वाले गरीब भूखों मरते हैं, वस्त्र और मकानो के लिए तरसते हैं। संसार का धन सिमट कर थोड़े से अमीरों के हाथ में आ जाता है। दुनिया का बहुत बड़ा गरीब मानवसमाज अन्न, वस्त्र एवं मकान, आदि से विहीन होकर दुःख पाने लगता है उस समय बड़े लोगों की अश्व, रथ, गज, धन, धान्यादि सुख-सम्पत्तियों को देखकर समाज में ईर्ष्या फैल जाती है। गरीबी के कारण लोगों में धैर्य छूट जाता है। दरिद्रता एवं दीनता के कारण धर्मभावना कमजोर हो जाती है। आवश्यक जीवननिर्वाह सामग्री न मिलने से चोरी, व्यभिचार की मात्रा भी बढ़ने लगती है। फिर वे सहज धर्मभीरु गरीब भी दूसरों की सम्पत्तियों को छीन लेने के लिए गिरोह बनाकर आन्दोलन करने लग जाते हैं।

धर्मविहीन अमीर यह नहीं समझते कि सम्पत्ति का परमफल यही है कि उससे धर्म, समाज तथा राष्ट्र की रक्षा की जाये, भूखों एवं दुःखियों का दुःख मिटाया जाय। ग्राम के चारों ओर आग लगने या महामारी फैलने से एक घर सुख की नींद नहीं सो सकता। जब समाज एवं राष्ट्र के लोग भूखों मरते हों, तो एक कोटिपति का सुख खतरे से खाली कदापि नहीं रह सकता। दोनों के संघर्ष में पूंजीवाद और साम्राज्यवाद मिट जाता है और फिर कुछ दिन के लिए साम्यवाद चल पड़ता है। राजा-प्रजा, अमीर-गरीब सबकी समानता का प्रयत्न होता है। उसके विरोधियों का सर्वनाश किया जाता है। परन्तु सृष्टि की विचित्रता अनिवार्य है। प्राक्तन धर्म एवं अधर्म की विचित्रता से प्राणियों तथा उनके सुख-दुःख एवं तत्सामग्रियों में भी विचित्रता होती ही है। सब की समान बल, बुद्धि, योग्यता न होने से काम में भेद, फिर दाम और आराम में भी भेद हो ही जाता है। इन्जीनियर, मजदूर, न्यायाध्यक्ष, सेनापति, सैनिक आदिकों की विषमता के बिना किसी भी राष्ट्र का शासन, सुव्यवस्थापन, संरक्षण हो ही नहीं सकता। ऐसी स्थिति में सर्वत्र काम, दाम, आराम में भेद हो ही जाता है। फिर निश्चय किया जाता है कि लोकमत के अनुसार योग्य शासक एवं प्रबन्धक निश्चित किये जायें और उनके दाम, आराम का कुछ अधिक ध्यान रखा जाय और उनका सालभर में या तीन साल में परिवर्तन होता रहे। जो कोई बहुमत से योग्य समझा जाय, उसे शासक या प्रबन्धक बनाया जाय और लोकसम्मत व्यक्ति को ही उच्च पद दिये जायें। बस इसी दृष्टि से इसे लोकतन्त्र, प्रजातन्त्र या किसानों तथा मजदूरों का राज्य कहा जाता है।

कुछ दिनों बाद समाज के विद्वानों को यह समझ में आने लगता है कि अल्पज्ञ लोकमत से योग्य व्यक्ति का निर्णय नहीं होता। कुछ प्रचारक, व्याख्याता, प्रवक्ता एवं पत्र-पत्रिकाओं से ही लोकमत बनाया जाता है। लोक का निजी मत क्या है इसका निर्णय नहीं हो पाता। लोक की कोई निश्चित स्थिति नहीं। कभी का लोकमत ईसा जैसे महापुरुषों को फांसी देने में विश्व का कल्याण

स्थितो मृत्युमुखे चाहं क्षणमायुर्ममास्तिन।
इतिमत्वा दान धर्मोयथेष्टो तु समाचरेत् ॥ —शुक्रनीति

समझता है, कभी का लोकमत उनके पूजन में कल्याण समझता है। कभी ईश्वर और धर्म के सम्मान में कल्याण समझा जाता है, कभी का लोकमत उनको काला मुँह करके निकालने की घोषणा करता है। ऐसी स्थिति में लोकमत के आधार पर वास्तविक लोकहित का निर्णय नहीं हो सकता। अतएव चुनावों में राष्ट्र का कितना धनक्षय होता है, कितने ही व्यक्तियों को प्राणों की भी बाजी लगानी पड़ती है। अतः विशेषज्ञों के मत के सामने लोकमत का मूल्य उसी तरह अकिंचित्कर है, जैसे रूप के विषय में एक नेत्रवान् के सम्मुख अरबों, खरबों नेत्रविहीनों का मत अकिंचित्कर होता है। यह सोच-समझकर ही कोई व्यक्ति अधिनायक बन बैठता है और वह बार-बार चुनाव की पद्धति को मिटाकर कुछ विशेषज्ञों की सम्मति से भिन्न प्रबन्धकों को नियुक्त करता है। अधिनायक अनुकूल हुआ तब तो ठीक ही है, अन्यथा वह भी बिना नियामक (ड्राइवर) की मशीन है। अनियन्त्रित शक्तिसम्पन्न अधिनायक से राष्ट्र को वैसा ही खतरा है, जैसा कि वेन आदि सम्राटों से पूर्वकाल में हुआ था। परन्तु प्रजा की आराधना से यदि वह युक्त हुआ, तब तो अनुरक्त प्रजा उसका सम्मान करती है। अन्त में पुत्र पौत्रादिपरम्परा का भी राज पर अधिकार चल पड़ता है।

सर्वथा धर्मात्मा एवं आस्तिक द्वारा ही विश्व में शांति एवं सुव्यवस्था होती है। अतः फिर से जब आस्तिकवाद, ईश्वरवाद सम्मानित होता है और पक्षपातशून्य अनादि, अपौरुषेय वेदों के अनुसार राजा-प्रजा, अमीर-गरीब सभी अपने-अपने धर्म को पालने लगते हैं, तब समाजहित राष्ट्रहित एवं विश्व के हित की भावना स्वयं बन जाती है। अन्याय, अत्याचार, परोत्पीड़न से जब अपने आप ही घृणा उत्पन्न हो जाती है, तब तो फिर सर्वत्र शान्ति ही शान्ति विराजने लगती है। उस स्थिति में अन्यायी एवं अत्याचारी को सताने का भाव नहीं रहता, किन्तु अन्याय, अत्याचार से उसका अहित होगा, इसलिए उसके अन्याय, अत्याचार मिटाने के लिए ही उसे दण्ड दिया जाता है, जिसका फल यह होता है कि संसार में अत्याचार, अन्याय मिट जाता है और दण्ड देने की आवश्यकता नहीं रहती। फिर तो दण्ड केवल संन्यासियों के हाथ में ही रह जाता है— 'दण्ड यतिन कर भेद जहँ'। तभी सच्ची शान्ति व्यवस्थापित होती है। चराचर जगत् सब कुछ परमेश्वरस्वरूप या सब कुछ परमेश्वर का अंश है इस भावना के बन जाने पर ही सच्चे साम्यवाद की भी स्थिति होती है। हाँ, केवल व्याख्यान में कहने की बात न हो, हो मन की सच्ची भावना। आस्तिकवाद होने से ही प्रजा का न्यायपूर्वक नियन्त्रण हो सकता है, अन्यथा कैसा भी शासनविधान क्यों न हो, उसके कार्यान्वित करने में गड़बड़ी हो ही सकती है।

राजकीय कर्मचारी कहाँ तक किसके पीछे रहकर नियन्त्रण कर सकेंगे? फिर धर्म भावना न रहने पर राजकीय कर्मचारियों के भी न्यायान्याय देखने के लिए पृथक्-पृथक् पुरुषों को

अधार्मिको नरो यो हि यस्यचाप्यनृतम् धनम्।
हिंसारतश्च यो नित्यं ने हासौ सुखमेधते ॥ —मनुस्मृति

नियुक्त करना पड़ेगा, फिर उनके नियन्त्रण के लिये भी इसी तरह व्यवस्था करनी पड़ेगी । यदि कहीं भी आस्तिकता न होगी तो किसी भी अभियोग का सच्चा साक्षी ही न मिल सकेगा । न्यायाध्यक्ष साक्षी को धर्म की याद दिलाकर उससे कहता है— "यमो वैवस्वतो राजा हृदि सर्वस्व धिष्ठितः तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गा मा कुरून् गमः" । वैवस्वत राजा यम सबके हृदय में विराजमान यदि उनके साथ विवाद न हो अर्थात प्राणी उनकी ओर से सच्चा हो, तो उसे गङ्गा और कुरु-क्षेत्र जाने की आवश्यकता नहीं रहती । अभिप्राय यह है कि साक्षी को न्यायाध्यक्ष के सामने सच्चाई के साथ ही बोलना चाहिए । तस्मात् यह स्पष्ट है कि आस्तिकवाद से ही विश्व में शान्ति, सुव्यवस्था एवं न्याय की स्थापना हो सकती है । अमीर-गरीब, राजा-प्रजा सभी अपना कर्त्तव्य पालन तभी दत्तचित्त होकर कर सकते हैं और अस्तिकवाद में ही सन्तुष्ट रह सकते हैं ।

☼

शास्त्र पर विश्वास करके यदि हम स्वधर्मानुष्ठान करें, तो ऐसा कोई भी दुर्घट पदार्थ नहीं जिसे हम प्राप्त न कर सकें । इस समय राष्ट्रोद्धार का मुख्य प्रश्न सामने है । उसके लिए यदि हम कुछ नहीं कर सकते, तो भी ईश्वराराधन कर ही सकते हैं, जबकि इस समय हमारे पास पर्य्याप्त अस्त्रबल नहीं, शस्त्रबल नहीं, बाहुबल नहीं, संगठनबल नहीं, बौद्धबल नहीं, परिस्थिति में तर्क-वितर्कों को दूर फेंककर दत्तचित्त होकर सबको ईश्वराराधन करना चाहिये । हम यह नहीं कहते कि अन्य साधनों का उपयोग न किया जाय किन्तु जब अन्य साधन पास में नहीं, तब आखिर किया ही क्या जाय ? और यह सबसे हो भी नहीं सकता कि घर में आग लगी हो और मन्दिर में बैठकर माला फेरें, दुर्गापाठ करें । हो भी सकता है पर इसके लिये अटल विश्वास की आवश्यकता है । पुरुषोत्तम, परब्रह्म, सर्वान्तरात्मा भगवान में पूर्ण-विश्वास वाला व्यक्ति ही ऐसा कर सकता है । भगवान उसकी सहायता अवश्य करते हैं । पर साधारण स्थिति वालों के लिये तो "मामनुस्मरयुद्धय च" का ही मार्ग सर्वोत्तम जान पड़ता है ।

☼

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः ।
सुखं च न विना धर्मात्तस्माद्धर्मं परो भवेत् ॥ —महर्षि शुक्राचार्य

क्या धर्म निष्फल है

[लोगों ने आज यह दृढ़ धारणा बना ली है कि धर्म-कर्म में क्या रखा है ? धर्मात्मा व्यक्ति प्रायः दुःखी रहते हैं जबकि अधर्मरत व्यक्ति मौज उड़ा रहे हैं। अतः वर्तमान समय में धर्म मनुष्य के कार्यों में बाधक ही है आदि। पूज्य स्वामी जी ने धर्मराज युधिष्ठिर एवं महारानी द्रौपदी के प्राचीन ऐतिहासिक संवाद के माध्यम से उक्त विचारधारा का बड़े मार्मिक एवं तर्कपूर्ण शैली में खण्डन करते हुए धर्म का दृढ़तापूर्वक अनुष्ठान करते रहने का प्रतिपादन किया है। आज सब समाज में धर्मविहीन वातावरण है, राज्य धर्मनिरपेक्ष है, साहित्य धर्मविरोधी है, व्यक्ति व्यक्ति धर्म के नाम से नाक भौं सिकोड़ता है --स्वामी जी बड़े समारोह पूर्वक सनातन धर्म पक्ष का प्रबल समर्थन करते हुए स्पष्ट उद्घोषित करते हैं कि धर्म और ईश्वर की उपेक्षा न करो, स्वधर्मानुष्ठान करो और ईश्वर को प्रणाम करो। लेख पढ़कर स्पष्टतः मन में धर्मभावनाओं का उदय होता है आप स्वयं अनुभव करो।]

धर्मात्माओं को दुःखी, उपेक्षित तथा भग्नमनोरथ देखकर, कितने लोगों को यह धारणा हो गई है कि धर्म से कुछ काम नहीं निकलता, बल्कि होते हुए कार्य में भी धर्म अड़चन डालता है।

इस विषय में एक प्राचीन इतिहास है। धर्मराज युधिष्ठिर की पत्नी द्रौपदी ने जब बनवास कृत दुःख से तप्त होकर कहा, "देव ! आप को धर्म बहुत प्रिय है। धन, राज्य, पत्नी, बन्धु और जीवन सब कुछ आप का धर्मार्थ ही हैं। मैंने सुना था कि धर्म रक्षक नरेन्द्र का धर्म ही रक्षण करता है, परन्तु वह धर्म आपकी रक्षा क्यों नहीं कर रहा है। जैसे छाया पुरुष का अनुगमन करती है, वैसा ही आपकी बुद्धि धर्म का अनुगमन करती है। आप कभी अपने बराबर या छोटों का भी अपमान नहीं करते, फिर श्रेष्ठों के अपमान की तो बात ही क्या ? समस्त भूमण्डल का साम्राज्य प्राप्त करने पर भी आपको अभिमान नहीं हुआ। आपके यहाँ स्वाहा, स्वधा, हन्तकार एवं विविध पूजाओं से देव, पितर, ब्राह्मण, यतियों का सम्मान, श्रौतस्मार्त अनेक कर्मों का अनुष्ठान होता रहता है। राजन ! फिर भी आप पर ऐसी विपत्ति क्यों आती है ?

देव ! शीलवान श्रीमान आर्य वृत्ति-कर्षित होकर भी क्यों दुःखी होते हैं और दुष्ट लोग क्यों सुखी होते हैं ? आप की विपत्ति और दुर्योधन की सम्पत्ति देखकर मेरे मन में विधाता के प्रति गर्हणा उत्पन्न होती है। जो क्रूर शास्त्रों का उल्लंघन कर अधर्म को बढ़ाता है, उसे वैभव देने से

मतो नदीसर्वेषां प्राणिनामुभयतो वहति ।
पापाय धर्माय च । तत्राद्यस्रोतोऽतीवबुलंभंतुद्वितीयम् ॥ ---सोमदेवसूरि

विधाता को क्या लाभ होता है ? यदि किया गया कर्म कर्त्ता को फल देता है, तो अवश्य उसके रच-यिता ईश्वर को भी फल मिलना चाहिये । यदि वह अपने विचित्र ऐश्वर्य्य के के प्रभाव से कर्मों से बच जाता है, तब तो फिर बल की ही प्रधानता रही । दुर्बल का तो फिर साथी दैव भी नहीं होता। अतः धर्म कथा सब ऐसी ही हैं । पहले तो प्राणियों को धर्म में श्रद्धा नहीं होती, होने पर भी धर्मात्मा के सामने विलक्षण विपत्तियों को देखकर सचमुच बड़े-बड़े धीरों के भी चित्त विचलित हो उठते हैं ।"

श्री युधिष्ठिर ने कहा, "देवि ! यद्यपि तुम्हारे वचन चित्र शोभन एवं सुकुमार हैं, तथापि नास्तिक्य भावों से युक्त हैं । राज पुत्रि ! हम कर्म फल की आकांक्षा से धर्म नहीं करते । कर्त्तव्य बुद्धि से यज्ञ, तप, दानादि क्रियायें की जाती हैं । उनका फल हो या न हो । गृहमेधी का जो कर्तव्य है, वही यथाशक्ति करता हूँ । शास्त्रों की आज्ञा और सत्पुरुषों के आचारों को देखकर स्वभाव से ही मेरा मन धर्म में लगता है । जो व्यापार बुद्धि से धर्म द्वारा अभीष्ट प्राप्त करना चाहता है, वह वेद-विदों की दृष्टि में प्रशंसनीय नहीं है । जो नास्तिकता से धर्म पर संदेह करता है, उसकी बुद्धि अपवित्र है । रानी ! मैं वेद प्रामाण्य से कहता हूँ, "धर्म पर सन्देह मत करो ।" धर्म पर शङ्का करने वाला प्राणी तिर्य्यग् योनि में जन्म लेता है और लोक वेद दोनों दृष्टि से वह गिर जाता है । वेदाध्यायी धर्मपरायण बालक भी वृद्धवत् आदरणीय है । शास्त्रोल्लंघी धर्मशंकी प्राणी तस्करों से भी निन्द्य हैं ।

रानी ! धर्म का माहात्म्य अभी-अभी तुमने प्रत्यक्ष देखा है । अप्रमेयात्मा चिरंजीवी मार्क-ण्डेय धर्म से ही इस अवस्था को पहुँचे हैं । व्यास, वसिष्ठ, मैत्रेय, नारद, लोमश, शुक तथा अन्या-न्य ऋषिगण धर्म की महिमा से ही दिव्य ज्ञान और शक्ति से सम्पन्न हैं । शाप अनुग्रह की शक्ति से युक्त एवं देवताओं से भी श्रेष्ठ हैं । ये लोग धर्म को ही प्रधान बतलाते हैं । अतः विधाता और धर्म पर आक्षेप नहीं करना चाहिये । बाल और अज्ञ तत्वज्ञों को उन्मत्त समझते हैं । धर्म शंकी किसी पर विश्वास नहीं करता । वह काम लोभ में आसक्त होकर नरक का भागी होता है ।

जो आर्ष प्रमाणों का लंघन करता है, वह किसी जन्म में शांति नहीं पाता । रानी ! धर्म ही संसार सागर में डूबते हुओं के लिये नाव है । स्वर्गादि परलोक प्राप्ति के लिये धर्म के सिवा दूसरा रास्ता ही नहीं । यदि धर्मचारियों से अनुष्ठित धर्म निष्फल हों तब तो यह लोक अनन्ततम में डूब जाये । सब पाशविक भाव प्रवाह में बह जायें । तुम्हारी और धृष्टद्युम्न की अग्नि से उत्पत्ति ही लोक विलक्षण धर्म में प्रमाण है । योगसिद्धि से से ऋषि गण धर्म का प्रत्यक्ष करते हैं ।

कर्मणां फलमस्तीह तथैतद्धर्मशाश्वतम् ।
ब्रह्मा प्रोवाच पुत्राणां यर्द्दषिर्वेद कश्यपः ॥

यौवनं जीवितं चित्तं छाया लक्ष्मीश्च स्वामिता ।
चञ्चलानि षडेतानि ज्ञात्वा धर्मरतो भवेत् ॥ –शुक्रनीति

'कर्मों का फल है' इसे कभी न भूलना चाहिये। देवि ! धर्म और ईश्वर (विधाता) को मत अपमानित करो। आदर से धर्म का अनुष्ठान करो और ईश्वर को प्रणाम करो।

यह स्पष्ट है, कि जब बिना हेतु के कोई भी कार्य्य नहीं होता, तब यह विचित्र शरीर सुख-दुःख और तत्सामग्री बिना कारण के कैसे हो सकता था ? जगद्वैचित्र्य की अन्यथा अनुपपत्ति से कर्म वैचित्र्य मानना ही पड़ता है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि जैसे कार्त्तिक का बोया हुआ ही बीज चैत्र में फल प्रदान करता है। चैत्र का बोया हुआ तो उस समय फल न देकर कालांतर में ही फल देता है। इस दृष्टि से यह हो सकता है, कि प्राणी धर्मानुष्ठान काल में पिछले पाप कर्मों से दुःखी रहे, और अधर्मानुष्ठान काल में भी पिछले पुण्य कर्मों से सुखी रहे. परन्तु जैसे बबूल में आम्रफल एवं आम्र में बबूल कण्टक नहीं लगता, उसी तरह अधर्म से सुख तत्सामग्री और धर्म से दुःख और तत्सामग्री नहीं मिलती। हाँ, उग्रपुण्यों और पापों के फल शीघ्र ही होते हैं। यह भी सहस्त्रों स्थानों में देखा जाता है। इसके अतिरिक्त अधर्म से मनोग्लानि और धर्म से प्रसाद तथा भावों में उत्कर्ष आदि भी प्रत्यक्ष ही देखे जाते हैं।

कितने औषध और कुपथ्य अपना सुपरिणाम और दुष्परिणाम विलम्ब में ही व्यक्त करते हैं। होमियोपैथिक औषधी छः-छः मास या साल-साल भरके बाद अपना गुण व्यक्त करती है। साथ ही यह भी है कि जितनी भूमि लोपने के लिए जितना जल चाहिये उससे कम जल में वह भूमि नहीं लीपी जा सकती। एक उदन्चन (गिलास) जल से महाप्रांगण का लीपना असम्भव है। वैसे ही थोड़े सत्कर्मों से दुःख प्रापक महापापों का निवारण कैसे हो ? जैसे प्रबल मल्ल पराभव के लिये प्रबल मल्ल की ही आवश्यकता होती है, वैसे ही प्रबल संवेग में किये गये दुष्कर्मों की शक्ति क्षीण कर के सत्फल प्राप्त करने के लिए तीव्र संवेग से किये जाने वाले बड़े सत्कर्मों की अपेक्षा होती है।

❋

किसी का अनिष्ट-चिन्तन करने से इतनी उसकी हानि नहीं होती जितनी चिन्तन करने वाले की हानि होती हैं। किसी भी कर्म में यदि 'समष्टि हित' की भावना रहती है, तो वह महत्त्व कम हो जाता है। समष्टि अहित की भावना से बड़ा से बड़ा यज्ञ, तप, दान आदि निवीर्य्य हो जाता है। ❋

कार्यं सोऽवेक्ष्य शक्तिं च देशकालौ च तत्त्वतः।
कुरुते धर्मं सिद्धयर्थं विश्वरूपं पुनः पुनः ॥ — मनुस्मृति

भारत और नरदेह जन्म

आज चारों ओर अहंकार का साम्राज्य है, भौतिकवाद में आकण्ठ निमग्न स्त्री पुरुष निज स्वरूप को भूलकर हिंसा, द्वेष, घृणा, स्वार्थ एवं पापाचार में रात-दिन निरत हैं, ऐसे घोर काल में स्वामी जी उद्विग्न जनता को शास्त्र वचनों का सदुपदेश देकर उन्हें समझाते हैं कि यह मानव देह बड़ी कठिनाई से मिला है इसे व्यर्थ में न गवांकर सत्पुरुषों के संग, सद्शास्त्रों के पक्ष एवं सत्कर्मों में लगाते हुये अपना और संसार का कल्याण करने में ही इस क्षुद्र क्षण भंगुर शरीर की सार्थकता है। पढ़कर सन्तप्त हृदय पाठकों को निश्चित रूप से शान्ति प्राप्त होती है।]

"नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्। मदानुकूलेन न भस्वतेरितं पुमान् भवाभवाब्धिं न तरेत् स आत्महा ॥" यह मनुष्य देह बड़ा दुर्लभ है जब प्राणी चौरासी लाख योनियों में भटकता-भटकता उद्विग्न हो उठता है तब भगवान् कृपा करके कल्याणार्थ मानव जन्म को प्रदान करते हैं। यह मानव देह अतिदुर्लभ होने पर भी भगवान् की कृपा से सुलभ हुआ है। अपार संसार समुद्र को पार करने के लिये यह मानव शरीर समर्थ जहाज है। वेद-शास्त्रमर्मज्ञ, विद्वान् आचार्य ही इस जहाज का कर्णधार अर्थात् पतवार पकड़ने वाला चतुर मल्लाह है। भगवान् कहते हैं 'ऐसा दुर्लभ शरीर रूप जहाज और आचार्य रूप कर्णधार मिल जाने पर मैं अनुकूल वायु बनकर जहाज को पार कर देता हूँ।' जो ऐसा उत्तम साज-समाज पाकर, परमेश्वरानुगृहीत होकर, आचार्योपदिष्ट शास्त्र के अनुसार शरीर को कर्मोपासना में लगाकर तत्त्व-साक्षात्कार करके अपार संसार समुद्र को पार नहीं कर जाता वह आत्मघाती है। 'जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ। सो कृत निन्दक मन्दमति आत्महन गति जाइ।' वह प्राणि परलोक में विविध प्रकार का दुःख पाता है—शिर धुन-धुनकर पछताता है काल और कर्म एवं ईश्वर को मिथ्या दोष लगाता है—

सो परत्र दुख पावई शिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईश्वरहि मिथ्या दोष लगाइ ॥

प्राणिमात्र का कर्त्तव्य है कि साधनधाम, मोक्षद्वार मानव देह को पाकर इसे व्यर्थ न जाने दे। इससे आत्मकल्याण एवं विश्वकल्याण का प्रयत्न करना चाहिए। भगवान् का नाम, भगवान् का ध्यान आदि सरल सुगम उत्तमोत्तम साधन हैं जिनसे प्राणी सहज में आत्मोन्नति कर सकता है। एक निमिष के ध्यान से प्राणी पंक्तिपावन-पावन हो जाता है, एक नाम से अनन्त पापराशि नष्ट हो जाती

अर्थ कामेष्व सक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥ —मनुस्मृति

है। जैसे चन्द्रोदय, मृगांक, मालती-वसन्त आदि महौषधी अतिस्वल्प (आधी रत्ती) मात्रा में भी सेवन करने से बड़ा लाभ पहुँचाती हैं, परन्तु पथ्य-परिपालन, कुपथ्य-परिवर्जन साथ-साथ अत्यन्त आवश्यक होते हैं, इसी तरह भगवत्कर्म भगवद्ध्यान, भगवच्चरित्रश्रवणादि भक्ति अत्यन्त लाभदायक होती है, परन्तु यहाँ भी स्वधर्म का पालन अधर्म-विधर्म का परिवर्जन परमावश्यक होता है।

अतिसौभाग्य से नरजन्म की प्राप्ति, तत्रापि पुमान् (पुरुष) होना, उनमें भी विप्र होना, विप्र होकर भी, दुराचारादि से बचकर वैदिक धर्मतत्पर होना बड़े ही सौभाग्य की बात समझी जाती है। फिर सगुण, निर्गुण ब्रह्मस्वरूप में परिनिष्ठित होना तो मानव जन्म की परम सफलता समझी जाती है—
"जन्तूनां नरजन्म दुर्लभमतः पुंस्त्वं ततो विप्रता, तस्माद्वैदिकधर्ममार्गपरता विद्वत्वमस्मात् परम्।"

स्वधर्मानुष्ठान, भगवदुपासना, भगवत्स्वसाक्षात्कार करके प्राणी अनायास ही जन्ममरणा-विच्छेदलक्षणा संसृति से छुटकारा पा जाता है। इसीलिए देवता लोग भी भारत में जन्म पाने के लिये तरसते हैं और कहते हैं अहो! इन भारतवासियों ने कौन पुण्यकर्म किया अथवा भगवान् स्वयं ही उन पर प्रसन्न हो गये, जिससे कि इनका भारतवर्ष में मुकुन्द-सेवा के उपयोगी जन्म हुआ। स्वधर्मानुष्ठान भगवदाराधना का समाश्रयण करके इन्हें परागति प्राप्त कर लेने का परम अवसर प्राप्त है "अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः। यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः।" दुष्कर तप, यज्ञ, व्रत, दानादि से हम लोगों ने यद्यपि स्वर्ग को प्राप्त कर लिया, परन्तु जहाँ नारायण-पादपंकज का स्मरण न हो, इन्द्रियों के अतिशय उत्सव (आनन्द) से भगवत्स्मृति प्रमुष्ट (छीनी जाती) हो जाती हो, उस तुच्छ स्वर्ग, जय से क्या लाभ?—

"किं दुष्करैर्नः क्रतुभिस्तपोव्रतैर्दानादिभिर्वा द्युजयेन फल्गुना।
न यत्र नारायणपादपङ्कजस्मृतिः प्रमुष्टातिशयेन्द्रियोत्सवात्॥"

कल्पजीवी दिव्य देवताओं के पुनरावृत्तिवाले लोकों को पाने की अपेक्षा क्षणमात्रजीवी प्राणियों को भारतभूमि की प्राप्ति सर्वोत्कृष्ट है, क्योंकि, यहाँ के मनस्वी क्षणभर में ही सर्वकर्म-संन्यास करके श्री हरि के अभयप्रद को प्राप्त कर लेते हैं—

"कल्पायुषां स्थानजयात्पुनर्भवात् क्षणायुषां भारतभूजयो वरम्।
क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः संन्यस्य संयन्त्यभयं पदं हरेः॥"

भारत में भगवान् के कथा-सुधा की गङ्गा एवं तदाश्रित भगवद्भक्त सुलभ होते हैं। वहाँ भगवत्संबन्धी यज्ञ, महोत्सवादि होते ही रहते हैं। यह सब चीजें जहाँ हों वहीं सर्वोत्तम स्थान है। इसके बिना इन्द्रलोक भी किसी काम का नहीं—"न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः। न यत्र यज्ञेशमखामहोत्सवाः सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम्॥" जो लोग भारत में ज्ञानक्रिया, द्रव्या-

---

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्॥ —याज्ञवल्क्यस्मृति

दिपूर्ण मनुष्य जन्म पाकर भी मोक्ष के लिए नहीं प्रयत्न करते हैं, वे लोग बन्दरों के समान पुनः-पुनः बन्धनों में ही फँसते हैं—"प्राप्त्वा नृजातिं त्विह ये च जन्तवो ज्ञानक्रियाद्रव्यकलापसंभृताम् । न वै यतेरन्नपुनर्भवाय ते भूयो वनौका इव यान्ति बन्धनम् ।"

भारत की एक बड़ी विशेषता है कि यहाँ यज्ञों में श्रद्धा से विधिसहित मन्त्रों के द्वारा दी हुई आहुति को प्रसन्नता के साथ अनेक नामरूपों से पूर्णकाम भगवान् ग्रहण करते हैं—"यैः श्रद्धया बर्हिषि भागशो हविर्निरुप्तमिष्टं विधिमन्त्रवस्तुतः । एकः पृथङ् नामभिराहुतो मुदा गृह्णाति पूर्णः स्वयमाशिषां प्रभुः ।।" माँगने वाले सकाम पुरुष को भगवान् अभिलषित वस्तुओं को प्रदान करते हैं, परन्तु ऐसा अर्थ नहीं देते जिससे बारम्बार अर्थिता बनी ही रहे। निष्काम भक्त की इच्छाओं को सर्वदा के लिये बन्द कर देने के लिये भगवान् अपने चरणकमल को उसके हृदय में प्रकट कर इच्छा का द्वार ही बन्द कर देते हैं—

"सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां नैवार्थदो यत्पुनरर्थिता यतः ।
स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छतामिच्छापिधानं निजपादपल्लवम् ।।"

विशेषतः गन्धर्व लोक, देव लोक में तत्त्वदर्शन में सुविधा नहीं होती। जैसे मलिन, चञ्चल जल में अस्पष्ट मुखदर्शन होता है, अथवा स्वप्न में अस्त-व्यस्त वस्तु दीखती है, वैसे ही इन लोकों में अस्पष्ट ब्रह्मदर्शन होता है। विषय-भोग के बाहुल्य होने एवं वैराग्य का अभाव होने से इन लोकों में तत्त्वदर्शन अति दुष्कर होता है। बत्तीस वर्ष ब्रह्मचर्य व्रत करने पर भी विरोचन ने उल्टा ज्ञान प्राप्त किया, एक सौ एक वर्ष में इन्द्र को तत्त्वज्ञान प्राप्त हुआ। देवता लोग चाहते हैं कि यदि हमारे यज्ञ, तप, दानादि सत्कर्मों का कुछ अंश अवशिष्ट हो तो प्रभु कृपा करके उसी सुकृत से भारतवर्ष में स्मृतिमत् जन्म देते हैं, जहाँ भजन करने वाले प्राणियों का भगवान् कल्याण करते हैं—

"यद्यत्र नः स्वर्गसुखावशेषितं स्विष्टस्य सूक्तस्य कृतस्य शोभनम् ।
तेनाजनाभे स्मृतिमज्जन्म नः स्याद् वर्षे हरिर्यद्भजतां शं तनोति ।।"

भारतवर्ष के सत्कुल में जन्म, विद्या सम्बन्ध सदाचारी जीवन बड़े भाग्य से प्राप्त होता है। कुछ लोग ऐसी स्थिति में काल को दोष देते हैं। कलिकाल का प्रभाव अवश्य ही साधनों पर पड़ रहा है; तथापि भगवत्परायण स्वधर्मनिष्ठ पुरुष को काल का कोई भी डर नहीं। अनन्तकोटि-ब्रह्मांडनायक, कर्तुमकर्तुं समर्थ, प्रभु से बड़ा कोई भी नहीं है। प्रभु की ओर चलने से प्रभु अनुकूल होते हैं। फिर प्रतिकूल कौन हो सकता है? यदि कोई प्रतिकूल हो भी तो क्या कर सकता है? बल्कि सज्जन लोग तो कृतादि युगों में कलियुग में जन्म पाना चाहते थे, इसलिए कि कलि में नारायणपरायण होकर प्राणी अनायास ही भवसागर को पार कर लेता है—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष नहिकश्चिच्छृणोतिमे ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ।। —महर्षि वेदव्यास

"कृतादिषु नरा राजन् कलाविच्छन्ति संभवम् ।
कलौ नरा भविष्यन्ति नारायणपरायणाः ॥"

कलि में दुराचार को त्याग कर दुर्विचार को रोककर सद्विचारपूर्वकसत्कर्मानुष्ठान करते हुए भगवान् का सहारा लेने से प्राणी का अवश्य कल्याण होता है। यद्यपि प्राक्तनकर्म स्वयं—साक्षात कर्म के प्रवर्त्तक नहीं होते; तथापि संस्कार द्वारा प्रवर्त्तक होते हैं। विहितत्व, निषिद्धत्वाकार से कर्म सुख-दुःखादिजनक अपूर्व पैदा करते हैं, क्रियात्वेन कर्मजनक-संस्कार पैदा करते हैं, वही संस्कार प्रकृति या स्वभाव शब्द से कहा जाता है। भगवान् ने कहा है कि सभी प्राणी अपनी प्रवृत्तिवश होकर तदनुसार ही कर्म करता है "सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।" तथापि भगवान् ने कर्मस्वातन्त्र्य के लिये उपाय बतलाया है —

"इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥"

इन्द्रियों का अपने अर्थों में रागद्वेष व्यवस्थित है, उनके वश में न होना यही पुरुषार्थ का मार्ग है अर्थात् सावधानी से सत्पुरुषों का सङ्ग और शास्त्रों का सङ्ग करके पाशविक रागद्वेष मिटाकर, शास्त्रानुसार सत्कर्मों में राग एवं दुष्ट कर्मों में द्वेष करके, सत्कर्मों में प्रवृत्ति दुष्ट कर्मों से निवृत्ति सम्पादन करने पर प्राणी प्रकृति एवं स्वभाव पर विजय प्राप्त कर सकता है। इस तरह ईश्वर, काल, कर्म को दोष न देकर ईश्वर की कृपा से ही अपने और लोक के कल्याण के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। □□

वैदिक शास्त्रों में बालक के विचारों को सम्भालने का बड़ा ध्यान रक्खा गया है। स्त्रियों और बालकों के निर्मल कोमलों पवित्र अन्तःकरण में पहले से ही जो बातें अंकित हो जाती हैं, वे ही सदा काम आती हैं। चित्त या अन्तःकरण यदि अद्भुत लाक्षा (लाख) के समान कठोर होता है, तो उसमें किसी भी आचरण या उपदेश का प्रभाव नहीं पड़ता, और जब वह द्रुत लाक्षा पर मुहर के अक्षरों के समान निर्मल, कोमल, पवित्र अन्तःकरण पर उत्तम आचरणों और उपदेशों से प्रभावित होता है। अच्छे पुरुषों का 'संग' तथा सच्छात्रों के अभ्यास में ही उन्हें लगाना अच्छा है।

धर्मं आचरितः पुंसां वाङ्मनकायकर्मभिः ।
लोकान् विशोकान् वितरत्यथानन्त्यमसंगिनाम् ॥ —श्रीमद् भागवत

आत्मवत् सर्वभूतेषु

[सारा संसार प्रगति के नाम पर आज न जाने किस ओर दौड़ा चला जा रहा है । प्रगतिशील सुसभ्य एवं समुन्नत कहे जाने वाले मानव समाज में मानव-मूल्यों का शीघ्रता से आज अवमूल्यन हो रहा है । मानवमन इतना स्वार्थपंक में निमग्न हो गया है कि उसे दूसरों के सुख-दुःख पर ध्यान देने का अवकाश ही नहीं है आज । स्वामी जी इस वातावरण में भी पुरातन इतिहास-पुराणादि के माध्यम से परोपकार, परदुःखकातरता, शरणागत रक्षा एवं अतिथि सत्कार आदि की बात बड़े समारोहपूर्वक उपस्थित करते हैं । राजा शिवि इन्द्र एवं अग्नि के संवाद के रूप में स्वामी जी द्वारा अभिव्यक्त वैदिकों की विशाल धर्मपरायणता की बानगी इस लेख में पाठकों के लिए प्रस्तुत है]

शास्त्रों में शरणागत रक्षण की महिमा बड़े ही रोचक ढङ्ग से वर्णित हैं । एक तरफ सांगोपांग दक्षिणा सहित सम्पूर्ण यज्ञ और दूसरे तरफ एक भी भयभीत प्राणी का परित्राण — दोनों बराबर हैं, बल्कि देवताओं ने तोल कर देखा तो प्राणरक्षण का ही पलड़ा भारी पड़ा । एक बार औशीनर शिवि के पास धर्म जिज्ञासा से अग्नि—कपोत (कबूतर) तथा इन्द्र - श्येन (बाज) बनकर गये । श्येन के भय से विह्वल होकर कपोत राजा शिवि के शरण गया, इतने ही में श्येन भी पहुँचा ।

राजा के अंक में सुरक्षित कपोत देखकर श्येन ने राजा से कहा – राजन् ! आप सभी राजाओं में श्रेष्ठ हैं, फिर धर्म विरुद्ध अधर्म क्यों करते हैं ? आपने दान से कृतघ्नों, सत्य से अनृतवादियों, क्षमा से क्रूरकर्माओं तथा सत्कर्म से असाधुओं को जीत लिया । अपकारियों का भी उपकार करते हो । दोषों को जानकर भी उनकी उपेक्षा करके गुणों के ही अन्वेषण में तत्पर रहते हैं । मैं क्षुधा से व्यथित हूँ । कपोत मेरा समुचित भक्ष्य है । आप इसको शरण देकर धर्म छोड़ रहे हैं ।

राजा ने कहा — तुम्हारे डर से प्राणरक्षार्थ मेरी शरण आये हुए, इस पक्षी को मेरे सदृश कौन पुरुष छोड़ सकता है ? लोभ, द्वेष और भय से जो प्राणी शरण आये हुए को त्याग देता है— उसको ब्रह्महत्या के समान पाप लगता है । शास्त्रों में महापातकियों के लिये भी प्रायश्चित्त है, परन्तु शरणागत परित्यागी के लिये कोई भी प्रायश्चित नहीं बतलाया गया । जैसे अपने प्राण प्रिय होते हैं वैसे ही सभी प्राणियों के प्राण हैं, अतः 'मृत्युभय से त्रस्त प्राणियों की रक्षा' परमधर्म है । संसार सागर में पड़े हुए प्राणी जन्म, मृत्यु एवं जरा आदि के उपद्रवों से क्लेश पाते रहते हैं । जिससे अपने को कष्ट

धर्मं चर--प्राग्ब्रह्मात्मप्रतिबोधान्नियमेनानुष्ठेयानि श्रौत-स्मार्तकर्माणि ।

—शांकरभाष्यतैत्तिरीयोपनिषद

होता है उससे दूसरों को भी कष्ट होता होगा—ऐसा समझकर प्राणी दूसरों को कष्ट न पहुँचावे। जैसे अपना जीवन अपने को प्रिय है वैसे ही दूसरों को भी अपना जीवन प्रिय होता है—इसलिए, मैं इस भीत कपोत को कथमपि न दूँगा।

श्येन ने कहा—राजन्! आहार से सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं। आहार से ही जीते हैं। दुष्कर काम भी प्राणी किसी तरह कर सकता है। परन्तु, आहार के बिना कोई भी रह नहीं सकता। कपोत मेरा आहार है। यदि यह मुझे न मिलेगा तो मेरे प्राण अवश्य चले जाएँगे। मेरे मरने पर मेरे पुत्रकलत्रादि सब मर जायेंगे। एक कपोत की रक्षा से हमारे बहुतों के प्राण लोगे। जो धर्म एक दूसरे धर्म को बाँधता हो—वह धर्म नहीं है किंतु अविरोधी धर्म ही धर्म है। धर्म का विरोध उपस्थित है। गौरव लाघव सोचकर जो बड़ा धर्म हो उसी का अनुष्ठान करना युक्त है।

राजा ने कहा—भयभीत प्राणियों को अभयदान से बढ़कर और कोई भी धर्म नहीं है। एक प्राणी को अभयदान इतना बड़ा धर्म है कि सहस्रों ब्राह्मणों को स्वर्ण समलंकृत सहस्रों गोदान भी उसकी बराबरी नहीं कर सकते। संसार में सुवर्ण, धन एवं वस्त्र आदि के दानी बहुत हैं। परन्तु प्राणियों का हितप्रद बड़ा दुर्लभ है। बड़े-बड़े यज्ञों का भी फल कभी न कभी क्षीण हो जाता है। परन्तु भीत को अभय देने वाले का फल कभी नहीं मिटता। तप, श्रुत, तीर्थ-सेवा आदि कोई भी कर्म अभयदान की बराबरी नहीं कर सकते। चतुःसागर पर्यन्त पृथ्वी के दान से भी विस्तृत अभयदान का फल होता है। हे श्येन! मैं राज्य छोड़ सकता हूँ। दुस्त्यज शरीर को भी छोड़ सकता हूँ। परन्तु भयसन्त्रस्त इस कपोत को नहीं छोड़ सकता। मेरा जो कुछ भी शुभ कर्म है, उससे मैं यही चाहता हूँ कि जन्मांतरों में भी मैं प्राणियों का आर्त्तिनाशक बनूँ। मैं राज्य, स्वर्ग, मोक्ष आदि कुछ भी नहीं चाहता—केवल दुःखतप्त प्राणियों का कष्ट निवारण चाहता हूँ। 'यन्मयास्ति शुभं किञ्चित्तेन जन्मनिजन्मनि भवेदमहमार्त्तानां प्राणिनामार्तिनाशकः। नत्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवं। प्राणिनां दुःखतप्तानां कामये दुःखनाशनम्।' यदि मेरी यह वाणी मिथ्या नहीं है तो उसी सत्य से परमेश्वर प्रसन्न हों। विहङ्गम तुम यदि आहार चाहते हो तो इससे अतिरिक्त जो कहो वह तुम्हें आहारार्थ दे सकता हूँ।

श्येन ने कहा—राजन्! कपोत ही मेरा आहार है उसी को दो, और मुझे कुछ भी नहीं चाहिये। राजन्! आप के इस धर्म में सार नहीं है आप भ्रम में न पड़िये। मेरा आहार मुझे दे दीजिये।

राजा ने कहा—विहङ्गम! कभी मैं कुशास्त्र के आधार पर नहीं चलता। दया से बढ़कर कोई धर्म नहीं। यह शास्त्र से ही उपदिष्ट धर्म है। सर्व प्राणियों को दान देने से भी एक प्राणी पर दया करना बड़ा धर्म है। सर्ववेद, सर्व यज्ञ एवं सर्वतीर्थाभिषेक आदि सत्कर्म जो कुछ कर सकते हैं—

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यंव्यवस्येद्विर्काहिचित्।
स धर्म इति विज्ञेयोनाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥ —मनुस्मृति

वह एक भूतदया ही कर सकती है। जो लोग वाक् काय एवं मन से सब प्राणियों का हित करते हैं, वे लोग दया के ही प्रभाव से ब्रह्मलोक जाते हैं। उठते—चलते, सोते—जागते जो भी चेष्टा भूतहितार्थ नहीं है वह पशु चेष्टित है। जो आत्मवत् प्राणियों की रक्षा करते हैं, वे लोग परमगति को प्राप्त होते हैं। मारे जाते हुए प्राणी को देखकर जो समर्थ होते हुए उपेक्षा करता है वह नरक का भागी होता है। 'प्राणिनं वध्यमानं तु यः शक्तः समुपेक्षिते स याति नरकं घोरमितिप्राहुर्मनीषिणः।' हे श्येन! तुम राज्य चाहो तो राज्य दें किंबहुना कपोत को छोड़कर जो भी कहो तुम्हें दे सकते हैं।

श्येन ने कहा—राजन ! यदि कपोत में आपका इतना दृढ़ अनुराग है तो कपोत के बराबर अपना मांस दे दो। यह सुनकर राजा ने कहा—श्येन ! यह तो आपने हम पर बड़ा अनुग्रह किया—जितना चाहिए उतना मेरा मांस लीजिये। सुजन लोग अप्रिय बात को विलम्ब से कहते हैं परन्तु यह तो मेरे लिए अत्यन्त प्रिय बात है, इसके कहने में आपने विलम्ब क्यों किया ? प्रतिक्षण विनश्वर अध्रुव शरीर से जो ध्रुव धर्म का अर्जन नहीं कर लेता वह तो शोच्य एवं मूढ़बुद्धि है। यदि किसी प्राणी के उपकार में इस शरीर का उपयोग न हुआ तो खिला पिला कर इसका उपकार करना भी व्यर्थ ही है।

श्येन ने कहा—राजन् ! मैं अधिक मांस नहीं चाहता तुला पर तौल कर केवल कपोत के बराबर ही अपना मांस दो।

राजा ने कहा—अस्तु, जैसा आप कहते हैं—मैं वैसा ही करता हूँ। इससे कपोत की रक्षा और आप की प्रसन्ता होगी। यह कहकर तराजू के एक पलड़े पर कपोत को रखकर दूसरे पलड़े पर अपना मांस निकाल निकाल कर प्रसन्नता के साथ राजा तौलने लगे।

साधु लोग अपने फल भोग की इच्छा को त्यागकर सर्व प्राणियों का सुख चाहते हैं। दूसरों के दुःख से ही वे दुःखी होते हैं, उनका अपना कोई भी दुःख नहीं होता।

तराजू पर पर्य्याप्त मांस रखने पर भी कपोत वाला पलड़ा भारी ही पड़ता गया, पुनश्च अपना मांस निकालकर राजा ने रखा। फिर भी कपोत गुरु ही ठहरा। जब निकालते निकालते सब मांस निकालकर रख देने पर भी कपोत के बराबर राजा का मांस न ठहरा, तब राजा अपने आप ही तुला पर बैठ गये। परदुःख से कातर भूतहितैषी लोग अपने सुख की परवाह नहीं करते इसका कितना सुन्दर और ज्वलन्त उदाहरण है। जब इस तरह राजा शिबि अपने सुख-दुःख की परवाह न कर तुला पर चढ़ गये, तब देवताओं ने दुन्दुभि बजाया और फूलों की वर्षा की।

राजा की दृढ़धर्मनिष्ठा देखकर इन्द्र ने अपने रूप में प्रकट होकर कहा—राजन् ! मैं श्येन के रूप में इन्द्र हूँ और यह कपोत अग्निदेव हैं। आप की धर्मनिष्ठा देखने के लिये हम दोनों आये थे। राजन्, ऐसा किसी राजा ने पहले नहीं किया न कोई आगे करेंगे। दूसरों के लिये प्राण त्याग करने से

योहिस्वधर्मनिरतः स तेजस्वी भवेदिह । —शुक्रनीति

जो प्राप्ति आपको हुई वह प्राणसंश्रयलुब्ध प्राणियों को प्राणों में भी नहीं हो सकती। दूसरों का अत्यंत कल्याण करने वाली अपने सुख के प्रति निष्ठुरता धारण करने वाली अद्भुत करुणा केवल आप ही में तरुणायमान हो रही है। अपने कर्मपाश से सारा जगत बँधा हुआ है। परन्तु जगत को दुःख से मुक्त करने के लिये आप करुणा से बद्ध हो रहे हो। जैसे आप सब प्रकार दोषों से मुक्त हैं उसी प्रकार आपको कर्त्तृत्व का अभिमान भी नहीं है। आपने विशिष्टों में ईर्ष्या न कर, नीचों का अपमान न कर, सदृशों से स्पर्धा न करके सर्वोत्तम कोटि को प्राप्त कर लिया। यह अन्यत्र दुर्लभ है। विधाता ने परोपकार के लिये ही आकाश में बादलों तथा भूमि में सफल द्रुमों को बनाया है। जो अपने प्राणों से दूसरे के प्राणों की रक्षा करता है वह उस परमधाम को प्राप्त होता है-जहाँ से पुनरावृत्ति नहीं होती। राजन्, आप ने अपने प्राणों से कृपण जन की रक्षा की है, अपना मांस दे दिया हैं। फिर और द्रव्यों की तो कथा ही क्या है। जीने को तो अपना ही पेट भरने वाले पशु भी जीते हैं। परन्तु सचमुच जीना तो उसी का है जो परार्थ जीता है। ठीक है, सन्तों का जीवन परार्थ ही होता है। चन्दन द्रुम जैसे अपने देह की शीतलता के लिए नहीं होते वैसे ही सन्त अपने उपकार के लिए नहीं; किंतु परार्थ ही उनका जन्म होता है। हे राजन्! आपकी कीर्ति अमर होगी। अब आप दिव्य रूप धर होकर चिरकाल तक पृथ्वी का पालन करके ब्रह्मलोक जायेंगे।

ऐसा कहकर इन्द्र और अग्नि अपने लोक को चले गये। राजा क्रतु से परमेश्वर का यजन करके देवता के समान विराजमान हुए। हिन्दू शास्त्रों को पढ़ने से अनेकों इतिहास ऐसे मिलते हैं, जिससे मालूम पड़ता है कि यहाँ धर्म के सामने अर्थ और काम का कोई भी मूल्य नहीं रहता था। धर्म के लिये प्राणों की परवाह नहीं की जाती थी। औशीनर, शिबि, दध्यङ्, अथर्वा तथा हरिश्चन्द्र आदिकों ने धर्म के लिये अपने प्राणों को संकट में डालकर अमरकीर्ति प्राप्त की है। यहाँ के पक्षियों ने भी अतिथि सत्कार के लिये अग्नि और लकड़ी लाकर अतिथि का शीत दूर किया। पश्चात उसकी क्षुधा दूर करने के लिये कुटुम्ब सहित अपने आप को अग्नि में होम किया। कहाँ लोगों की इतनी विशाल धर्म प्रियता, कहाँ आज ऐन्द्रिय भोगों एवं मिथ्या तत्साधनों के प्रलोभन में धर्म का बहिष्कार। क्या एक बार फिर अपने प्राचीन इतिहासों पर गम्भीर दृष्टि डालनी समुचित नहीं है? ◻◻

> 'ईश्वर का अभिव्यञ्जक शास्त्र है। शास्त्रों पर विश्वास करके एवं समुचित ढंग से उनका अध्ययन करके उनके अनुसार अनुष्ठान करना और परात्पर, पूर्णतम पुरुषोत्तम परब्रह्म की उपासना करना यही 'कल्याण का मार्ग है।' गीता भी कहती है कि प्राणी स्वधर्मानुष्ठान द्वारा ही अभ्युदय, निःश्रेयस, परमगति प्राप्त कर सकता है। इसीलिसे हमें अपनी समस्त चेष्टाओं एवं हलचलों को शास्त्रोक्त बनाने की कोशिश करनी चाहिये।

गृहीतं इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्।

धर्म रक्षार्थ प्रचार कार्य आवश्यक

[धर्मविहीन राष्ट्र में धर्म की बात कहने, धार्मिक संस्थान बनाने, धर्म प्रचार करने की कोई आवश्यकता नहीं; धर्म तो अंतर की वस्तु है, उसके लिए प्रचार के टण्टे में पड़ना ठीक नहीं। अथवा कलियुग में तो धर्म का पतन होना ही है अतः क्यों झमेले में पड़ा जाय। या फिर धर्म तो ईश्वर ने बनाया है। वही उसकी रक्षा आदि कर लेगा आदि-आदि विचार आज के पढ़े लिखे समाज में व्यक्त किये जाते हैं–परन्तु स्वामी जी का कथन है कि जैसे गर्मी की ऋतु में गर्मी के निवारण तथा शीत ऋतु में गर्मी के सम्पादन के लिए प्रयत्न आवश्यक है इसी प्रकार कलियुग में भी धर्म की रक्षार्थ प्रयत्न आवश्यक ही है।..... ......जब कुत्ता भी जहाँ बैठता है वहाँ पूँछ से स्थान स्वच्छ कर बैठता है तो कोई धार्मिक, भक्त, ज्ञानी जहाँ रहेगा उस स्थान, देश का वातावरण शुद्ध करना चाहेगा। कर्तव्य पालन पर दृष्टि रखकर संसार को भगवत्स्वरूप समझकर परोपकार एवं सेवा भाव से, तत्ववित्त, धर्मात्मा पुरुषों को धर्म प्रचार-प्रसार करने में ही कल्याण निहित है। स्वामी जी की तर्क शैली का अवलोकन करें।]

बहुत से सज्जन आस्तिकता और प्राचीनवादिता के अतिरेक में आकर कहने लगते हैं कि 'सभाओं, संस्थाओं का निर्माण और धर्म प्रचार आदि धर्म के हितार्थ नहीं हैं। प्रचार में बहिर्मुखता आती है। धार्मिकता में अन्तर्मुखता अभीष्ट है। दूसरों को अज्ञानी समझकर उपदेश में प्रवृत्त होने से अहंकार प्राबल्य होता है, किंतु अभीष्ट होता है अहंकार का शैथिल्य। धर्म अन्तर्मुखता का साधन है। उससे आर्थिक, राजनीतिक लाभ निकालने की बात सोचना अनुचित है। जहाँ बाहर से अपने को भीतर करना इष्ट हो वहाँ बाह्यप्रवृत्ति बढ़ाने का कुछ अर्थ ही नहीं। समूह बनाकर प्रार्थना आदि की जाय ये सब पाश्चात्य भाव हैं।' किंतु वस्तुतः यदि शास्त्रों का पूर्णरूप से अध्ययन किया जाय तभी यह कहना सङ्गत हो सकता है कि शास्त्रों में क्या है और क्या नहीं। शास्त्रों में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष – सभी कुछ वर्णित हैं, अतएव प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों मार्ग शास्त्रों में वर्णित हैं। महाभारत की तो प्रतिज्ञा है कि जो इसमें है वही अन्यत्र है, जो यहाँ नहीं वह कहीं नहीं है—'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।' शास्त्रों में जहाँ निवृत्तिमार्ग का वर्णन है वहाँ देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि – सब की चेष्टाओं का अत्यन्त निरोध तक कहा गया है। जिस समय पञ्चेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि चेष्टाशून्य हो जाते हैं वही परा गति है – "यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहु परमां गतिम्॥" वहाँ शुभ-अशुभ, सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म सभी का त्याग अभीष्ट होता है—"त्यजे धर्ममधर्मञ्च उभे सत्यानृते त्यज। उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तं त्यज॥" वहाँ परोपकार, धर्मरक्षा आदि सभी

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। —वैशेषिक दर्शन

स्वामी चरण का अवतरण साधुमात्र का त्राण
देवी सम्पति की विजय असुरशक्ति निर्वाण।

दर्शन से धवलित दिशा धवलित भारतवर्ष
स्वामिचरण ने दे दिया जन जन को शुभ हर्ष।

धर्म मात्र की जय सदा हो अधर्म का नाश
प्राणिमात्र सद्भाव में करें सदा विश्वास।

मेरा तेरा क्यों करें विश्व मात्र कल्याण
दुर्लभ सारे मन्त्र ये स्वामीजी के दान।

तपः पूत काया बना परब्रह्म से खेल
स्वामी जी में हो गया जीव–ब्रह्म का मेल।

हरि हैं हर हैं और हैं मूर्त्तिमान आनन्द
अपने कर का पात्र है भोजन है निश्छन्द॥

वस्तुएँ उपेक्ष्य हो जाती हैं। स्वप्न के समुद्र में डूबते हुए प्राणियों को बचाने के लिए स्वप्न की नौका या पुल की तभी तक आवश्यकता होती है, जब तक स्वप्न भंग नहीं होता। स्वप्न भंग होते ही सब कुछ बाधित हो जाता है। फिर उन बातों को महत्व देना उपहासास्पद होता है। अतिनिर्विण्ण मुमुक्षुओं, जिज्ञासुओं को भी संसार से अत्यन्त मुँह मोड़ कर आत्मजिज्ञासा में लग जाना पड़ता है। दुनिया भर में उथल-पुथल मच जाय, पुण्य-पाप और पाप पुण्य हो जाय, सूर्य ठण्डा और चन्द्र ऊष्ण पड़ जाय, समुद्र शुष्क और सुमेरु विचूर्ण हो जाय तथा अन्तरिक्ष विशीर्ण हो जाय, फिर भी साधक को अपने लक्ष्य से टस से मस न होना चाहिए—'प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः।' फिर भी ऐसा भी पक्ष है कि जो कृपण, दुःखी प्राणियों को छोड़ कर मुक्ति भी नहीं चाहते "नैनान्विहाय कृपणान्विमुमुक्ष एको नान्यत्त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये।।" तत्त्ववित् भी लोकसङ्ग्रहार्थं विविध कर्मों को करते हैं। जैसे बहिर्मुखदशा में भोजन, पान आदि में प्रवृत्ति होती है, वैसे ही लोकसंग्रहार्थ तत्तत्कर्मों में भी प्रवृत्ति होती ही है। वशिष्ठ, याज्ञवल्क्य आदि की कर्मकाण्ड में, दुर्वासा आदि की तपस्या में, नारद आदि की गुणगान में, सनकादि, शुकादि की समाधिनिष्ठा में और चन्द्र, सूर्य ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि देवताओं की सृष्टि, स्थिति, संहार आदि में विस्तृत प्रवृत्ति होती है। फिर भी वे वस्तुतः अकर्ता अभोक्ता, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव ही हैं। कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखने वाला तत्त्ववित् युक्त और कृत्स्नकर्मकृत् ही माना गया है। जैसे मरुमरीचिका में फेन-बुदबुद-तरङ्गयुक्त महासमुद्र के प्रतीत होने पर भी वस्तुतः वहाँ जल त्रिकाल बाधित है, शुद्ध शुष्क भूमि एवं मरीचिका के अतिरिक्त वहाँ 'जल' नाम की वस्तु है ही नहीं, वैसे ही अनन्त प्रपञ्च तथा कर्मकलाप के प्रतीत होने पर भी वस्तुतः तत्त्ववित् की दृष्टि में शुद्ध, अखण्ड ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी भासित नहीं होता।

इससे निम्न श्रेणी यह है कि जैसे गुड़ माधुर्य का अनुभवी पित्तदोष से गुड़ में कदाचित तिक्तता का अनुभव करते हुए भी उसमें कभी श्रद्धा नहीं करता, वैसे ही प्रारब्धदोष से द्वैत एवं तन्मूलक कर्मकलाप का अनुभव करते हुए भी तत्त्ववित् उसकी सत्यता में विश्वास नहीं करता। कथा, प्रवचन आदि के द्वारा अनादिकाल से धर्म, ब्रह्म के प्रचार की परम्परा प्रचलित है। कर्मकांड अनेक ऋत्विजादिसापेक्ष होते ही हैं। राजसूय, अश्वमेधादि बहुधन-जनसाध्य होते हैं यह प्रसिद्ध ही है। बहुकर्तृक सत्रादि भी प्रसिद्ध ही है। 'अधीतिबोधाचरणप्रचारणैः' यह प्रसिद्ध वचन तो अध्ययन, बोध, आचरण, प्रचारण का घण्टाघोष वर्णन करता ही है। नैमिषारण्य के अगणित महर्षियों की सूत जी द्वारा कथाश्रवणादिपद्धति भी बहुत प्रसिद्ध है। तब धर्म प्रचार आदि को धर्म हितार्थ न मानने में तुक ही क्या है?

इस पर कुछ लोग पूछ सकते हैं कि 'खड़े होकर व्याख्यान देने की बात तो शास्त्रों में नहीं आती।' किंतु यह भी ठीक नहीं। राजा पृथु सभा में खड़े होकर व्याख्यान रूप में ही बोले थे। देखिये—

मृत्युरपि धर्मिष्ठं रक्षति। —चाणक्य

'तस्मिनर्हत्सु सर्वेषु स्वर्चितेषु यथार्हतः । उत्थितः सदसो मध्ये ताराणामुडुराडिव ।। ऊचिवानिदमुर्वीशः सदः संहर्षयन्निव ।' (श्रीमद्भागवत, ४/२१। ४-१६) । कहा जाता है कि 'व्याख्यानों में ताली बजाने की पद्धति नवीन है ।' पर यह भी ठीक नहीं । प्राचीन काल में प्रसन्नता में करतल ध्वनि करने की परिपाटी थी । अघासुर के मुख में ग्वालबाल प्रसन्नता से करताडनपूर्वक प्रविष्ट हुए 'वीक्ष्योद्धसन्तः करताडनैर्ययुः ।' (भागवत १० । १२ । २४) । निष्कर्ष यह निकलता है कि जैसे चेतन आत्मा के परतन्त्र अचेतन देहादि रहते हैं, ठीक वैसे ही यदि आध्यात्मिकता एवं धार्मिकता के परतन्त्र लौकिकता एवं आधुनिक भौतिक विज्ञान हैं, तो उनका उपयोग कर लेना उचित ही होगा । आज तीव्र संवेग से यदि संघटन और दक्षतापूर्वक कार्य न किया जायगा, तो धर्म, संस्कृति सभी संकटग्रस्त हो जायेंगे ।

'धर्म सनातन है, नित्य है, उसका कोई बाल बांका नहीं कर सकता । फिर हमें उसकी रक्षा के टण्टे में क्यों पड़ना चाहिये ? इसी तरह 'कलिकाल में धर्म का नाश अवश्यम्भावि है । फिर हमारे करने से क्या होगा ?' ये दोनों धारणाएं अत्यन्त हानिकारक हैं । धर्म भव्य है, अनुष्ठानसाध्य है, उसका क्षय भी होता है । प्रवाहरूप से और अधिष्ठातृदेवरूप से वह नित्य भी है । कलि में भी उसकी रक्षा का प्रयत्न उसी तरह आवश्यक है जिस तरह ग्रीष्म में भी उष्णता-निवारणार्थ और शीत में भी उष्णतासम्पादनार्थ प्रयत्न आवश्यक होता है । दण्डनीति के नष्ट हो जाने पर त्रयी (वेद एवं तत्प्रोक्त धर्म) संकटग्रस्त हो जाता है—'नश्येत् त्रयी दण्डनीतौ हतायाम् । आज 'हिन्दूकोड' आदि के द्वारा वही दृश्य सामने उपस्थित है । इस दृष्टि से राजनीति की उपेक्षा बड़ी ही घातक नीति है । राजनीति के बिना धर्म विधुर होता है तो धर्म के बिना राजनीति भी विधवा होती है । अतः राजनीतिसहकृत धर्म एवं धर्मनियन्त्रित नीति होनी चाहिये । धर्म को राजनीति से पृथक् रखने से कल्याण होना असम्भव है यह सत्य है ।

यह सच है कि जो अपने उद्धार और सुधार का प्रयत्न नहीं करता, वह अपना या देश, किसी का भी कल्याण नहीं कर सकता । स्वयं तरकर ही दूसरों को तारा जा सकता है । स्वयं भ्रष्ट हो तो वह दूसरों को भ्रष्ट करके ही रहता है । फिर भी व्यष्टि के उत्थान के साथ समष्टि के उत्थान का प्रयत्न होना आवश्यक ही है । यद्यपि संसार श्वलांगूल (कुत्ते की पूंछ) के समान टेढ़ा का टेढ़ा ही है, जैसे कुत्ते की पूंछ घृत, तैल का प्रयोग कर सीधा करने का लाख प्रयत्न करने पर भी—वांस की नली में डालकर रखने पर भी—टेढ़ी की टेढ़ी ही रहती है, वैसे ही लाख प्रयत्न करने पर भी संसार की अपनी वही रफ्तार बेढंगी रहेगी, तथापि अवतारों, ऋषियों, महर्षियों ने अपने अपने समय में काम किया ही है। अपरिगणित प्राणी उन प्रयत्नों से आत्मकल्याण में समर्थ हो सके हैं । पूर्ण समर्थ, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान वह परमेश्वर ही मुख्यरूप से संसार को सन्मार्गगामी बनाने का जिम्मेदार है, जिसका यह संसार है । फिर

धर्मेण जयति लोकान् । --चाणक्य

भी जब श्वान भी बैठता है वहाँ लांगूल से स्थान को पवित्र करके बैठता है, तब कोई धार्मिक, भक्त या ज्ञानी जहाँ रहेगा, उस स्थान, देश तथा वातावरण को शुद्ध रखना चाहेगा ही। समष्टि व्यष्टि परस्पर एक दूसरे से विशेषरूप से सम्बद्ध हैं। समष्टि का प्रभाव व्यष्टि पर और व्यष्टि का प्रभाव समष्टि पर पड़ता ही है। पवित्र वातावरण वाले पवित्र देश, नगर में रहने से साधना में बड़ी सुविधाएं मिलती हैं। अपवित्र वातावरण एवं अपवित्र देश, ग्राम आदि में रहने से अनेक असुविधाएं होती हैं। मद्यपायी, वेश्यागामी, नास्तिक पुरुषों एवं कुलटा स्त्रियों के सन्निधान में रहने से उच्चकोटि के व्यक्तियों पर भी दुष्प्रभाव पड़ता है। सन्त, भगवत्परायण, परोपकारनिष्ठ, ब्रह्मात्मनिष्ठ प्राणियों के समागम से अपकृष्ट व्यक्तियों पर भी सत्प्रभाव पड़ता है। इस दृष्टि से कर्तव्यपालन पर दृष्टि रखकर कार्य करना आवश्यक है। जगत् को भगवत्स्वरूप समझकर सेवाबुद्धि से या जगत् को भगवत्सन्तान एवं कुपथ्याभिमुख रुग्ण समझकर या सन्निपातग्रस्त समझकर उसके सम्मान-अपमान का ध्यान न कर उसकी सेवा करना उचित है। जैसे पशु के विपरीताचरण का ध्यान न रखकर किंवा सन्निपातग्रस्त रोगी के विपरीताचरण, सम्मान अपमान का ध्यान न कर चिकित्सक चिकित्सा करता है, वैसे ही जनता की सेवा का भाव होना चाहिए। तत्त्ववित् के सामने शिष्यों के शतशः प्रश्न होने पर भी, ज्ञान, अज्ञान, संशय, विपर्यय के भावों को जानता हुआ और समाधान करता हुआ भी वह जिस तरह अहंकार-ममकार से लिप्त नहीं होता, प्रत्युत नाट्य एवं सिनेमा का दृश्य समझकर सर्वप्रपञ्चातीत रहता है, उसी तरह की स्थिति तत्त्ववित् लोकसंग्रही धर्मसंस्थापक की होती है। यदि ये उदात्त भाव न होंगे, तब तो पदे-पदे अहंकार-ममकार का प्रसंग उपस्थित होता ही रहेगा। ▫▫

न वेदबाह्यो धर्मः। —चाणक्य

शक्ति का स्वरूप

[शक्ति के बिना शिव भी शव है। सम्पूर्ण विश्व में शक्ति का ही साम्राज्य है। अनन्त ब्रह्माण्ड के अणु अणु में व्याप्त जो अदृश्य शक्ति है, स्वामी जी ने उसी अचिन्त्य दिव्य शक्ति का शास्त्रीय स्वरूप इस लेख में प्रस्तुत किया है, वे लिखते हैं कि 'वेदान्त वेद्य परमतत्त्व ही शिव, राम, विष्णु, सूर्य्य, शक्ति आदि के रूप में प्रकट होता है, जैसे मृत्तिका में घटोत्पादिनी शक्ति और अग्नि में दाहिका शक्ति होती है इसी प्रकार ब्रह्म में अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोत्पादिनी शक्ति है। वही निखिल विश्व की जननी है— वह अनिर्वचनीया है, वही माया शक्ति है, वह तप रूप है, वही अविद्या कहलाती है। —सारांश ! जो भी कुछ देखा सुना जाता है उसके भीतर बाहर व्याप्त होकर वही पूर्ण चिति ही विद्यमान है।

उस कल्याणमयी, करुणामयी, वात्सल्यमयी, स्नेहमयी, पुत्रवत्सला माँ जगदम्बा की आराधना में ही सर्वविध कल्याण है। प्रबुद्धजन ज्ञान वर्धन करें।]

श्री भगवती ने देवी भागवत का संक्षेप में श्री विष्णु के लिये उपदेश किया है।

"सर्वं खल्विदमेवाहं नान्यदस्ति सनातनम्"

अर्थात् यह सब कुछ सनातन मैं ही हूँ। मेरे से भिन्न कोई भी तत्त्व नहीं है। वेदान्त-वेद्य परमतत्व ही शिव तथा स्कन्द पुराण के शिवतत्व, रामायण के राम, विष्णु पुराण के विष्णु एवं वही सूर्य्य, शक्ति, आदि रूप से प्रकट होता है। श्री हिमालय पर कृपा करके करुणामयी, कल्याणमयी अम्बा ने ही अपने दिव्यस्वरूप का उपदेश दिया है :—

"अहमेवास पूर्वं तु नान्यत्किंचिन्नगाधिप।"

नगाधिप ! मैं ही एक सब कुछ हूँ। मेरा अनन्त अखण्ड ब्राह्मरूप अप्रतर्क्य एवं अनिर्देश्य है, अनौपम्य और अनामय है। उसी सर्वाधिष्ठान, स्वप्रकाश परब्रह्म की एक स्वतः सिद्धा शक्ति है, वही माया नाम से प्रख्यात है। जैसे मृत्तिका में घटोत्पादिनी शक्ति और वह्नि में दाहिका शक्ति होती है, वैसे ही ब्रह्म में अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोत्पादिनी शक्ति है। वही निखिल विश्व की जननी है। इस पक्ष में जगत भ्रान्तिमय या अध्यस्त कैसे है, प्रपञ्च की स्वरूपसत्ता न होने से आरोप्यानुभव से आदित संस्कार नहीं बन सकेगा फिर भ्रान्ति या अध्यास कैसे सम्भव होगा इत्यादि शंकाओं को स्थान ही नहीं रहता, क्योंकि शक्ति द्वारा ब्रह्म की ही प्रपञ्चरूप से व्यक्ति हो जायेगी। फिर अद्वैत सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं होगा। कारण कि पारमार्थिक सद्रूप परमात्मा ही अद्वितीय है। प्रपञ्च और

'नमो धर्माय महते नमः कृष्णाय वेधसे।
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य धर्मान्वक्ष्ये सनातनान् ॥' — भीष्म पितामह

उसकी जननी-शक्ति तो सत्, असत् और सदसद्, इन तीनों से विलक्षण है। अतएव अनिर्वचनीया है। जैसे वह्निशक्ति वह्नि से विलक्षण है, वैसे ही सत् की शक्ति सत् से विलक्षण है। अतएव अनिर्वचनीय है :—

न सती सा नासती सा नोभयात्माविरोधतः।
एतद्विलक्षणा काचिद्वस्तुसत्तास्ति सर्वदा॥"

ब्रह्मज्ञान द्वारा इसका बोध हो जाता है। इसलिये ब्रह्म नित्य सत् नहीं है, परन्तु उसी के कार्य्यभूत प्रपञ्च से समस्त व्यवहार बनता है, इसलिये ब्रह्म असत् भी नहीं और परस्पर विरोध होने के कारण दोनों की स्थिति असम्भव है, अतः सदसद् उभय स्वरूप भी नहीं है। अनिर्वचनीय वस्तुरूप मायाशक्ति मोक्ष पर्यन्त विद्यमान रहती है। जैसे पावक में उष्णता, सूर्य्य में किरण और चन्द्रमा में चन्द्रिका है, वैसे ही ब्रह्मात्मिका चिच्छक्तिरूपा भगवती में सहजसिद्धा मायाशक्ति है। सुषुप्ति में जैसे समस्त जीवों के व्यवहार विलीन रहते हैं, वैसे ही प्रलयकाल में माया के भीतर ही समस्त जीव और उनके कर्म और समस्त प्रपञ्च अभेदभाव से उसी माया में विलीन रहता है। उसी शक्ति के ही अनिर्वचनीय सम्बन्ध से निर्गुण निलिप्त चिच्छक्ति जगत् का बीज अर्थात् कारण रूप भी हो जाती है। उस परमतत्व के आश्रित रहने वाली माया शक्ति उसे आवृत्त करती है, इसलिये ब्रह्मशक्ति सदोष समझी जाती है। मायाशक्ति में भी विद्या और अविद्या यह दो भेद रहते हैं। उनमें विद्या विशुद्धा सत्वात्मिका होने से स्वाश्रय को व्यामोहित नहीं करती। अतः वह निर्दोष है। तम से अभिभूत सत्वयुक्त अविद्या स्वाश्रय को व्यामोहकारिणी है, इसीलिये ब्रह्म सदोष है। चैतन्य के सम्बन्ध से तद्गत चिदाभास ही चेतन प्रधान होने के कारण निमित्तकर्त्ता है और उसी शक्ति का प्रपञ्चरूप में परिणाम होता है, अतः समवायि कारण भी है। कोई लोग उस मायाशक्ति को ही तप कहते हैं। परमेश्वर उसी तप से विश्व का निर्माण करते हैं —

"स तपस्तप्त्वेदं सर्वमसृजत्" और कोई शाखी उसे ही तम कहते हैं।

"तम आसीत् तमसा गूढमग्रे"

तम अज्ञान से ही आवृत्त होकर परमतत्व प्रपञ्चरूप में प्रतीत होता है। उसे ही कोई ज्ञान-माया प्रधान प्रकृति एवं अजाशक्ति भी कहते हैं। उसी को कोई विमर्श, कोई अविद्या भी कहा करते हैं।

"केचित्तां तप इत्याहुस्तमः केचिज्जडं परे,
ज्ञानं मायां प्रधानञ्च प्रकृतिं शक्तिमप्यजाम्।
विमर्श इति तां प्राहुः शैवशास्त्रविशारदाः
अविद्यामितरे प्राहुर्वेदतत्त्वार्थचिन्तकाः॥"

"धर्माधर्मं न जानन्ति विद्यादानबहिष्कृताः।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन विद्यादानं प्रयच्छताम्॥" —'वाराहपुराण'

ब्रह्म निर्विकार साक्षी दृक् से दृश्य है, अतः जड़ है। अधिष्ठानज्ञान से उसका नाश हो जाता है, अतः असती है। एवं द्वैतजाल चैतन्य दृश्य नहीं है। यदि उसमें भी दृश्यता हो तो वह भी जड़ ही हो जायेगा, अतः स्वप्रकाश चैतन्य दूसरे में नहीं प्रकाशित होता।

"तस्याजडत्वं दृश्यत्वाज्ज्ञाननाशात्ततोऽसती।
चैतन्यस्य न दृश्यत्वं दृश्यत्वे जडमेव तत्।"

वह चैतन्य जैसे जड़ से नहीं प्रकाशित होता वैसे ही दूसरे चैतन्य में भी उसका प्रकाश नहीं होता। कारण, ऐसा मानने में अनवस्था होना अनिवार्य्य है। साथ ही वह अपने से भी अपना प्रकाश नहीं करता क्योंकि ऐसी स्थिति में उसमें कर्त्तृत्व और उसी में कर्मत्व होगा, जो संगत नहीं है। पर समवेतक्रियाफलशाली कर्म हुआ करता है। अपने आप कर्ता और अपने आप कर्म यह पक्ष अत्यन्त विरुद्ध है, अतः दीपक के समान वह स्वयं प्रकाशमान होकर दूसरों का प्रकाशक है, इसलिये स्वयं प्रकाश कहलाता है—

"स्वप्रकाशञ्च चैतन्यं न परेण प्रकाशितम्।
अनवस्थादोषसत्त्वान्न स्वेनापि प्रकाशितम्॥
कर्मकर्त्री विरोधः स्यात् तस्मात्तद्दीपवत्स्वयम्।
प्रकाशमानमन्येषां भासकं विद्धि पर्वत॥"

जाग्रत्स्वप्न सुषुप्ति में दृश्य का व्यभिचार होता है, अर्थात् जागर का दृश्य स्वप्न में नहीं और स्वप्न का जागर में नहीं और इन दोनों का सुषुप्ति में नहीं, सुषुप्ति का आलम्ब जागर स्वप्न में नहीं। परन्तु इन तीनों अवस्थाओं का अखण्ड बोध या संविद् सर्वभासक रूप में नित्य अव्यभिचारी है। संविद् या बोध का व्यभिचार या अभाव कभी भी अनुभव में न आता है न आ सकता है। यदि बोध के भी अभाव का अनुभव माना जाये तो वहाँ भी वह अभाव जिस साक्षी से अनुभूत होता है, वह बोधरूप साक्षी जब विद्यमान ही है तब बोध या संविद् का अभाव कैसे कहा जा सकता है। बिना बोध या संविद् के भाव अभाव दोनों ही नहीं सिद्ध हो सकते। अतः संविद् का अभाव सिद्ध करने के लिये भी संविदरूप साक्षी की आवश्यकता रहती ही है इसीलिये सर्वभासक स्वप्रकाश होने से चैतन्यरूप है, अबाध्य अव्यभिचारी होने से सत्य एवं नित्य है। मैं कभी न होऊँ ऐसा नहीं किन्तु सदा रहूँ ही। इस तरह प्राणियों के निरतिशय निरूपाधिक परप्रेम का आस्पद होने से वह परमानन्दरूप है। साथ ही जब उससे भिन्न सारा ही प्रपञ्च मिथ्या ही है, तब कोई भी उसमें तात्विक सम्बन्ध नहीं बन सकता। अतः उनमें असंगता भी स्थित ही है। जब स्वप्रकाश संविद्रूपा भगवती से भिन्न माया और उसका कार्य्य सभी सत्, असत् और सदसत् से ये विलक्षण अनिर्वचनीय मिथ्या है, तब फिर परिच्छेदक (भेदक या मापक) देश काल वस्तु न होने से ही अपरिच्छिन्नता (त्रिविधपरिच्छेद-शून्यता) भी सहज

**'व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः।
त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति॥' —चाणक्य**

में ही सिद्ध हो जाती है। वह जो सर्वदृश्यभासक बोध सिद्ध किया गया है, यह आत्मा का धर्म नहीं है, किन्तु आत्मस्वरूप ही है। धर्म मानने से आत्मा को उसका दृश्य होने से आत्मा में जड़ता आ जायेगी।

"तच्च ज्ञानं नात्मधर्मे धर्मत्वे जड़ताऽत्मनः"

यदि स्वप्रकाश आत्मा का धर्म है ज्ञान तो उसकी आवश्यकता ही क्या रहती है? यदि ज्ञान को स्वप्रकाश और आत्मा को जड़ मानें सो भी ठीक नहीं, कारण कि स्वप्रकाश ज्ञान जड़ आत्मा का ही शेष या अंग हो सकता है। लोक में जड़ ही चेतन का शेष होता है यही प्रसिद्ध है। जैसे बोध या ज्ञान जड़रूप आत्मा का धर्म नहीं बन सकता वैसे ही वह चित्त बोधरूप आत्मा का भी धर्म नहीं हो सकता। कारण, चित् का चित्त से भेद ही नहीं हो सकता, फिर भेद बिना चित् चित का धर्माधर्मि भाव कैसे बन सकेगा? इसलिये आत्मा ज्ञानरूप एवं सुखस्वरूप है। यह अवश्य समझने की बात है कि जो ज्ञान और सुख नाम से प्रसिद्ध है वह अनित्य और विनाशी अन्तःकरण की वृत्तिरूप है। उसी ज्ञानाभास या सुखाभास में अविवेकियों को ज्ञान या सुख का भ्रम होता है। परन्तु इन विनाशी वृत्तिरूप ज्ञान और सुखों का प्रकाशक स्वप्रकाश अखण्ड बोध या ज्ञान ही असली ज्ञान और सुख है।

"ज्ञान अखण्ड एक सीतावर। सबकर परम प्रकाशक जोई। राम अनादि अवधपति सोई।"

"चिद्धर्म त्वं चितो नास्ति चितश्चित्रैव भिद्यते।"

वह बोध ही अत्यन्त अबाध्य होने से पारमार्थिक सत्य है और वही सब कुछ है अतः पूर्ण और असंग एवं द्वैत जाल से विवर्जित है। वही काम कर्मादि के सहित अपनी माया से ही पूर्व संस्कार के अनुसार कालकर्म के विपाक से सृष्टि की इच्छा वाला हो जाता है। जैसे कोई प्राणी पूर्व-संस्कार से अबुद्धिपूर्वक ही नींद से उठ बैठता है वैसे की आत्मा की यह सृष्टि कालकर्मसंस्कार से अबुद्धिपूर्वक ही होती है। यही जगत् बीजभूत प्रकृति से विशिष्ट मेरा स्वरूप अव्याकृत या माया शक्ल कहलाता है, वही समस्त कारणों का कारण है और समस्त तत्वों का आदिभूत तत्व है, वही मायाशक्तियुक्त सच्चिदानन्द कहलाता है, वही समस्त कर्मों का घनीभूत स्वरूप ज्ञानों और इच्छाओं का आश्रय है, वही आदितत्व ह्लींकार ओंकार आदि का वाच्य तत्व है "सर्वकर्मो घनीभूत इच्छा ज्ञानक्रियाश्रयं। ह्लींकारमन्त्रवाच्यं तदादितत्वं तदुच्यते" उसी मायाशक्तिविशिष्ट अव्यावृत से शब्दतन्मात्रस्वरूप सूक्ष्माकाश उत्पन्न हुआ। उससे स्पर्शात्मक वायु और वायु से रूपतन्मात्रास्वरूप तेज, और उससे रसात्मक जल, जल से गन्धात्मिका पृथ्वी उत्पन्न होती है, इन्हीं अपञ्चीकृत सूक्ष्म पञ्चभूतों के सात्विक अंश से अन्तःकरण और पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, राजस अंश से प्राण और पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। वह सब मिलकर व्यापक लिङ्गशरीर ही आत्मा का सूक्ष्म देह कहा जाता है और पूर्वोक्त अव्याकृत ही आत्मा का कारण देह है। भूतों के तामस अंश से पञ्चीकरण मार्ग से स्थूल प्रपञ्च और विराट की उत्पत्ति होती है। भूतों के समष्टि सात्विक अंश से उत्पन्न अन्तःकरण में वृत्तिभेद से

'अहिंसालक्षणोधर्मः।' —चाणक्य

चार रूप बन जाते हैं। संकल्पविकल्प करते समय मन, निश्चय करते हुये बुद्धि, स्मरण करते समय चित्त, और अहंकरण काल में अहंकार कहा जाता है। प्रकृति में भी विशुद्ध सत्वप्रधाना माया और मलिनसत्वप्रधाना अविद्या कहलाती है, स्वाश्रय को न मोहित करने वाली विद्या में प्रतिबिम्बसमन्वित अधिष्ठान ईश्वर कहा जाता है, वह स्वाश्रय के ज्ञान से युक्त सर्वज्ञ सर्वानुग्राहक है। अविद्या में प्रतिबिम्ब समन्वित अधिष्ठान अल्पज्ञ एवं दुःखादि का आश्रयभूत जीव है। दोनों ही स्थूल सूक्ष्म कारण तीन देहों से युक्त हैं। व्यष्टि स्थूल सूक्ष्म कारण जीव के हैं, और समष्टि तीनों देह ईश्वर के हैं। व्यष्टि में कारण देहाभिमानी प्राज्ञ सूक्ष्म शरीराभिमानी तैजस और स्थूल शरीराभिमानी विश्व कहलाता है। समष्टि देहों के अभिमानी अव्याकृत, हिरण्यगर्भ एवं विराट् कहलाते हैं। ईश्वर ही नाना भोगों के आश्रयभूत विश्व का निर्माण करते हैं। भगवती ने कहा मेरी मायाशक्ति से ही समस्त चराचर विश्व बनता है, वह माया भी मुझसे पृथक् नहीं है, व्यवहारदृष्टि से जो माया और अविद्या कहलाती है वह परमार्थतः मुझसे पृथक कुछ भी नहीं है :—

"व्यवहारदशायेयं विद्यामायेति विश्रुता। तत्वदृष्ट्या तु नास्त्येव तत्वमेवास्ति केवलम् ॥"

भगवती का स्वप्रकाशरूपा भगवती ही निखिल प्रपञ्च का निर्माण करके उसमें वही प्रवेश करती है जिस तरह एक ही आकाश घटाकाश और महाकाश रूप में प्रकट होता है स्वप्रकाश चैतन्य ही विद्याशक्तिविशिष्ट ईश्वर अविद्या या अन्तःकरणविशिष्ट होकर जीवरूप में व्यक्त होता उसी अनेक उपाधिभेद से ही जीवों में नानात्व और गमनागमन सब कुछ उत्पन्न होता है। जैसे सूर्य्य भगवान् उच्चावच अनेक प्रकार की वस्तुओं का प्रकाश करते हैं परन्तु उनके गुणों या दोषों से वे युक्त नहीं होते, वैसे ही अखण्डबोधरूप सर्वान्तिरांतमा सभी दृश्य का प्रकाशन करते हैं परन्तु उनके गुणों और दोषों में वे लिप्त नहीं होते। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब या रज्जु में सर्प वैसे ही शुद्धप्रकाशस्वरूप परमतत्व में समस्त प्रकाश्य परिकल्पित हैं। अतएव ईश्वर सूत्रात्मा विराट ब्रह्मा विष्णु रुद्र गौरी ब्राह्मी वैष्णवी सूर्य्य तारक तारकेश स्त्री पुमान् नपुंसक एवं शुभ अशुभ समस्त प्रपञ्च ही परात्परपूर्णतम परम तत्व ही का स्वरूप है। जो भी कुछ देखा और सुना जाता है उसके भीतर और बाहर व्याप्त होकर एक वही निर्विकार पूर्ण चिति ही विद्यमान है। सबको सत्तास्फूर्ति प्रदान करने वाली चिति से विमुक्त होकर जो कुछ भी है वह शून्य है, वन्ध्यापुत्र के समान है। जैसे सर्पधारा माला आदि भेदों में एक रज्जु ही अनेकधा भासित होती है वैसे ही एक चिद्रूप आत्मा ही अनेक रूप में भासित होता है। जैसे अधिष्ठान के बिना कल्पित पदार्थ की सत्ता और स्फूर्ति नहीं टिक सकती उसी तरह सच्चित्स्वरूप परमतत्व के बिना कल्पित विश्व में सत्ता और स्फूर्ति नहीं रहती। यच्च किञ्चित्क्वचिद्वस्तु दृश्यते श्रूयतेऽपि वा अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्याहं सर्वदा स्थिता। न तदस्ति मयात्यक्तं वस्तु किञ्चिच्चराचरं। यद्यस्ति चेत्तच्छून्यं वन्ध्यापुत्रोपमं हि तत्।

'ब्राह्मे मुहूर्त्ते बुद्ध्येत धर्माथौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्वार्थमेव च ॥' —भगवान् मनु

पातिव्रत महत्व

[नारी स्वातन्त्र्य के वर्तमान युग में प्रायः सम्पूर्ण समाज, साहित्य एवं विचारधाराएँ बड़ी तीव्रता से प्रतिकूल दिशा में बह रही हैं; पुरातन भारतीय समाज में नारी का बड़ा सम्मान था, उच्च स्थान था। वह भोग की सामग्री मात्र न होकर पूजनीया थी। समाज की उसे खान माना जाता था। उसकी पवित्रता पर विशेष बल रहता था। परन्तु आज समय का प्रवाह उल्टा बह रहा है जिसका परिणाम भी बुद्धिमानों से छिपा नहीं है। स्वामी जी इस भयंकर झंझावात से तनिक भी प्रभावित न होकर दृढ़तापूर्वक सनातन-शाश्वत-हितकर सिद्धान्तों को पकड़कर उनका प्रतिपादन करते रहे हैं। प्रस्तुत निबन्ध में कौशिक ब्राह्मण एवं उसकी पतिव्रता धर्म-पत्नि की पौराणिक आख्यायिका के द्वारा पातिव्रत धर्म के महत्त्व को उन्होंने प्रस्तुत किया है जिसे पढ़कर इस कामवाद-कामाचार-कामभक्षण से युक्त झुलसते समाज में शीतलता का अनुभव होता है। इस बयार का आप भी आनन्द लेकर आत्मिक लाभ प्राप्त करें।]

प्रतिष्ठान नगर में एक ब्राह्मण था। उसका नाम कौशिक था। उसे अपने पूर्व जन्म के किसी कर्म विपाक से कुष्ठ रोग हुआ। ऐसी दशा में उसकी पतिव्रता स्त्री देव की तरह उसकी पूजा किया करती थी। वह उसके तलवे में तेल मलती, अंगों को दबाती, स्नान कराती, भोजन कराती, कफ, मलमूत्र, रक्त का शोधन करती, एकान्त में विभिन्न प्रकार के उपचारों एवं प्रेम सम्भाषण द्वारा अत्यन्त विनीत भाव से सदा पूजा करती थी।

स्त्री द्वारा इस भाँति सेवित पूजित रहने पर भी, यह अत्यन्त क्रोधी स्वभाववश, पद पद पर उस बिचारी को बुरी तरह फटकारा करता था, परन्तु वह साध्वी इतने पर भी उसे देवता ही मानती थी। वह उस कोढ़ी पति को भी अपना सर्वस्व मानती थी। एक बार उस ब्राह्मण ने चलने में असमर्थ होने पर भी, अपनी स्त्री से कहा, कि हे धर्मज्ञे ! तू मुझे उस वेश्या के घर ले चल, जिसे मैंने घर बैठे अभी राज मार्ग से जाते देखा है। वह मेरी हृदय में बस गई है। उसे मैंने प्रातः काल देखा था। अब रात हो गई। अब तक वह मेरे हृदय से बाहर नहीं हो रही है। यदि उस सर्वाङ्ग सुन्दरी का मुझे आलिङ्गन न मिला, तो यह निश्चय है कि तुम मुझे मृत देखोगी। मैं समझता हूँ, वह दुर्लभ है, तथापि काम इसकी परवाह नहीं करता। मेरी चलने की शक्ति नहीं, फिर भी वहाँ पहुँचना चाहता हूँ। यही विषम समस्या उपस्थित है।

'विद्या ददाति विनयं विनयाद् याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति धनाद् धर्मं स्ततः सुखम् ॥ —हितोपदेश

अपने कामार्त पति के वचनों को सुनकर, वह पतिव्रता व्याकुल हो उठी और अपने पति को कन्धे पर चढ़ा कर, धीरे-धीरे चली। रात का समय था, आकाश मेघ से ढका था, बिजली रह रह कर चमक रही थी। बिजली के प्रकाश में ही मार्ग देख कर, वह पतिव्रता अपने पति के प्रेम से चल रही थी। उसी मार्ग में एक शूली गड़ी थी, जिस पर महर्षि माण्डव्य को चोर की भ्रान्ति से चढ़ाया गया था। अन्धकार के कारण मार्ग ठीक नहीं दिखाई पड़ा, कन्धे पर चढ़े हुये ब्राह्मण के चरण से, महर्षि के अंग का स्पर्श हो गया। अत्यन्त दुःख से आर्य महर्षि को बड़ा क्रोध हुआ, और उन्होंने कहा, जिसने मुझे हिला कर कष्ट दिया, वह पापात्मा सूर्य्योदय होते ही मर जाये। ब्राह्मण की पत्नी ने मुनि के दारुण शाप को सुन, अन्यन्त व्यथित होकर कहा, कि सूर्य्य का उदय ही न होगा। उस पतिव्रता के वचन से बहुत दिन तक सूर्य्य उदय ही न हुआ, निरन्तर रात्रि ही बनी रही। देवता गण भयभीत होकर सोचने लगे, कि स्वाध्याय वषट्कार स्वाहाकार के लोप हो जाने से, विश्व की किस तरह रक्षा होगी। सूर्य्योदय बिना, दिन रात की व्यवस्था नष्ट हो जायेगी, उसके बिना पक्ष, मास, अयन संवत्सर का ज्ञान सुतरां दुर्घट हो जायेगा।

पतिव्रता के वचन से सूर्य्योदय नहीं हो रहा है, बिना सूर्य्योदय के स्नान दान अग्निहोत्रादि क्रिया कैसे होंगी। यज्ञ भागादि बिना देवताओं का आप्यायन न होगा, यज्ञादि से तर्पित हो कर देवता वृष्टि आदि द्वारा अन्न का उत्पादन करके, मनुष्यादि प्राणियों का उपकार—तर्पण करते हैं। उर्ध्ववर्षी मनुष्य नीचे से यज्ञादि द्वारा देवताओं का उपकार करते हैं, अधोवर्षी देवता ऊपर से मनुष्यों का उपकार करते हैं, इस परस्पर भावना से ही सब कल्याण के भागी होते हैं। देवता जल की वर्षा करते हैं, तो मनुष्य हविष्य की वर्षा करते हैं। जो नित्य नैमित्तिकी क्रियाओं द्वारा देवताओं को बिना अर्पण किये भोग भोगते हैं, उन पर जल, सूर्य्य, अग्नि और वायु कुपित हो जाते हैं, और उन अपकारियों की भूमि को दूषित कर देते हैं, विविध रोगों को उत्पन्न कर देते हैं, और जो देवताओं को तृप्त करके भोग भोगते हैं, देवगण प्रसन्न होकर उन्हें पर्याप्त भोग, और आरोग्यादि प्रदान करते हैं।

देवताओं के ऐसे विचारों को सुनकर, प्रजापति ने कहा, कि तेज से ही तेज और तप से ही तप की प्रशान्ति होती है। पतिव्रता के माहात्म्य से ही, सूर्य्य का उदय नहीं हो रहा है, सूर्य्य के उदय न होने से देवताओं और मनुष्यों दोनों की ही हानि होगी, अतः अत्रिपत्नि अनुसूया के पास जाओ। देवताओं ने जाकर ऋषि पत्नी की स्तुति की, उस देवी ने प्रसन्न होकर आने का प्रयोजन पूछा। देवताओं ने प्रार्थना की, कि देवि सूर्य्य का उदय होना चाहिये। अनुसूया ने कहा, कि पतिव्रता का माहात्म्य जिस तरह से न घटे, उसी तरह उसका सम्मान करके, सूर्य्य का आवाहन करूंगी, जिससे दिन रात की ठीक व्यवस्था हो। जिस तरह पतिव्रता के पति का नाश न हो, और सूर्य्य का उदय भी हो,

'एक एव सुहृद्धर्मा निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति॥

ऐसा कार्य्य करूंगी आप लोग जाएं।

ऐसा कहकर वह उस पतिव्रता के मन्दिर में गईं, और उसके पति और धर्म का कुशल पूछा, और कहा — अपने पति को सुख देने वाली हे कल्याणि ! प्रसन्न हो ? तुम समस्त देवताओं से अपने पति को श्रेष्ठ मानती हो ? स्त्री को पति शुश्रूषा से ही महाफल प्राप्त होता है, मनुष्य को पांच ऋण सदा ही देने चाहिये। अपने वर्णधर्म के अनुसार धन सञ्चय करके उसे सत्पात्र में दान करे, सत्य सरलता, तप, दान और दया का आचरण करे, एवं प्रतिदिन श्रद्धा सहित, राग और द्वेष रहित होकर यथा शक्ति शास्त्रोक्त कर्म करे। इस तरह प्राणी बड़े बड़े परिश्रम से प्राजापत्य आदि लोकों को प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु पत्नी पति की शुश्रूषा मात्र से, पति के समस्त पुण्यों में अर्ध की भागिनी होती है। स्त्री के लिये पृथक् यज्ञ, उपवास, श्राद्ध आदि का विधान नहीं है। भर्त्ता की आराधना से ही पत्नी दिव्य लोकों को प्राप्त कर लेती है, इसीलिये हे साध्वि ! तुम सदा ही भक्ति से पति की सेवा में मन लगाओ, नारी को पति ही परागति है।

अनुसूया के वचनों को सुनकर, बड़े आदर से मानकर के पतिव्रता ने कहा, कि मैं धन्य हूँ, और मेरे ऊपर देव का बड़ा अनुग्रह है, हे देवि ! मेरी प्रकृति सिद्ध श्रद्धा को आपने बढ़ा दिया, यह मैं जानती हूँ, कि नारी के लिये पति के समान कोई भी गति नहीं है। पतिप्रीति ही स्त्री के लिये इस लोक परलोक में परमोपकार कारिणी है। पतिप्रसाद से ही पत्नी यशस्विनी होकर, इस लोक और परलोक में विविध सुख की भागिनी होती है। देवि ! आप आज्ञा कीजिये, मैं और मेरे आर्य को क्या करना चाहिये।

अनुसूया ने कहा महाभागे ! इन्द्र सहित समस्त देवता दुःखी होकर मेरे शरण आए हैं, आपके वचन से सूर्य्य का उदय नहीं हो रहा है, अतः दिन रात की व्यवस्था चाहते हैं। उसी के लिये मैं आई हूँ। दिन के न होने पर समस्त यागादि कर्मों का लोप हो जायेगा, और उसके बिना देवताओं की तृप्ति नहीं होगी, उसके उच्छेद से अनावृष्टि द्वारा जगत का उच्छेद हो जायेगा। इसीलिये हे कल्याणि ! आप धैर्य धारण करके, जगत की आपत्ति को दूर करो। हे सुभगे ! लोकों के कल्याण के लिये फिर भी सूर्य्य उदय हों।

ब्राह्मणी ने कहा महाभागे ! माण्डव्य ने मेरे पति को—ईश्वर को, बड़े क्रोध में आकर शाप दिया है, कि सूर्योदय होते ही तुम मर जाओगे। इस पर अनुसूया बोली, हे भद्रे ! यदि तुम चाहो, तो तुम्हारे पति को मैं पहिले की भांति नीरोग शरीर कर दे सकती हूं। हे सुन्दरी ! मेरे लिये पति-व्रता स्त्रियों का आराधन करना कर्त्तव्य हो जाता है, इसलिये मैं तुम्हारा आदर करती हूं। तपस्विनी अनसूया ने, उस ब्राह्मणी के तथास्तु कहने पर, सूर्यदेव का आवाहन किया। उस समय उसे सूर्यार्घ्य

'श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः।
इहकीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्॥ मनु० २/९

लिये दश रात्रियां बीत गई थीं।

तब इतने काल के बाद विकसित रक्त कमल से स्वरूप वाले भगवान् भास्कर उस मण्डल के साथ उदयाचल पर अवतीर्ण हुये।

उसी समय उस ब्राह्मणी का पति प्राणों से विमुक्त होकर, मर गया। मरते समय वह ज्योंही भूमि पर गिरने लगा, त्यों ही उसकी उस पत्नी ने उसे पकड़ लिया, गिरने नहीं दिया। इस अवसर पर अनुसूया बोली 'हे भद्रे ! तुम विषाद न करो। मेरी शक्ति को देखो, जिसे मैंने पति सेवा से प्राप्त की है, नहीं तो मेरी इस चिर तपस्या का फल ही क्या होगा' ? इसके बाद उसने बड़ी दृढ़ता से कहा 'यदि मैंने रूप, शील, बुद्धि, वाक्य, और मधुरता आदि सत् गुणों में अपने स्वामी के समान किसी को नहीं देखा, तो उस "सत्य" से यह ब्राह्मण रोग निर्मुक्त हो जाये, जीवित हो जाये, और अपनी पत्नी के साथ सौ वर्ष तक रहे। यदि किसी को भी मैं अपने पति समान देवता नहीं समझती हूँ, तो इस सत्य से यह ब्राह्मण जीवित हो जावे, रोग मुक्त हो जावे। यदि सचमुच मन, वचन, और कर्म से मैंने पति का आराधन किया है, तो यह मेरा उद्यम सफल हो, यह ब्राह्मण जीवित हो जावे।'

इसके बाद वह ब्राह्मण उठ बैठा, जीवित हो गया। उसका रोग जाता रहा, युवावस्था उसे मिली, उसकी कान्ति से घर चमक उठा। देवताओं की भाँति वह अजर हो गया। उसी समय आकाश से पुष्प वृष्टि हुई। दिव्य बाजे बजे। देवता बड़े प्रसन्न हुये और बोले 'हे कल्याणि ! तुमने सूर्यदेव के उदय से देवताओं का बड़ा कार्य सम्पादन किया, तुम वर मांगो, देवता तुम पर प्रसन्न हैं, तुम्हें वर देने को उद्यत हैं, तुम्हारा व्रत बहुत उत्तम है। इसे सुनकर अनसूया बोली 'यदि ब्रह्मादि देवता मुझ पर प्रसन्न हैं, वर देने को उद्यत हैं और मैं आप लोगों के द्वारा वर देने योग्य समझी जा रही हूं, तो यह वर मिले कि - ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर मेरे पुत्र हों, और मैं अपने पति के सहित क्लेश मुक्ति के लिये योग को प्राप्त करूँ"।

ब्रह्मादिक देवताओं ने 'एवमस्तु' कहा। इस भाँति उस ब्राह्मणी ने पतिव्रत का महात्म्य दिखलाते हुये, अपने साथ ही अपने पति का भी उद्धार किया, और भगवती अनुसूया के गर्भ से विष्णु रुद्र और ब्रह्मदेव, दत्तात्रेय, दुर्वासा और चन्द्रमा के रूप से अवतरित हुये। पतिव्रत धर्म से इस जगत् में कुछ भी असाध्य नहीं है।

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥ मनु० २/१२

गोवंश : संस्कृति का मूलाधार

[धर्म का आधार यज्ञ है, यज्ञ का आधार वेद मन्त्र एवं हवि है; मन्त्र ब्राह्मण में सुरक्षित है तथा हवि गो में—इन दोनों का एक ही कुल है; अतः वैदिक धर्म-कर्म आदि का मूलाधार गो एवं ब्राह्मण को बतलाया गया है। स्वामी जी ने गो हत्या बन्दी के लिये अपनी सम्पूर्ण तपस्या का संकल्पपूर्वक विनियोग करते हुए जीवनपर्यन्त तदर्थ प्रयास किये और गो रक्षा को भारत राष्ट्र की आर्थिक सुव्यवस्था के लिए अनिवार्य बतलाया। विपुल साहित्य की भी गोरक्षा एवं गोहत्या बन्दी के लिये उन्होंने संरचना की —प्रस्तुत निबन्ध में स्वामी जी ने अत्यन्त संक्षिप्त रूप से उन्हीं विचारों की अभिव्यक्ति करते हुए सम्पूर्ण गोवंश को वैदिक संस्कृति का मूलाधार निरूपित किया है; गोप्रेमी, गोभक्त सज्जन अवलोकन करें।]

गाय का दुग्ध, दधि, घृत तक्र, स्वास्थ्यकारक एवं सर्वरोग निवारक है। गोमूत्र में गंगा तथा गोबर में लक्ष्मी का निवास है। गोमूत्र-गोबर से अनेक उदर, चर्म, रक्तादि के रोगों का निवारण होता है। अनुपम खाद निर्माण का भी गोमूत्रादि दिव्य साधन है। पंचगव्यपान देह के त्वक्, अस्थिगत दोषों के निवारण एवं आत्मशुद्धि का परम साधन है। प्रत्येक तपोव्रत योगादि के पूर्व यह अत्यावश्यक है। किसी भी देवपूजा-प्रतिष्ठा में गो-दुग्धादि पंचामृत अनिवार्य है। हिन्दू संस्कृति के मूल प्रत्येक संस्कार में गोदान होना चाहिये। वैतरणी तरणार्थ गोदान तथा श्राद्ध वृत्षोत्सर्ग—ये हिन्दुओं के महत्वपूर्ण कर्तव्य हैं।

गाय के खुर, सींग, पुच्छ तथा रोम-रोम में अपरिगणित देवता, कुलपर्वत, तीर्थ विद्यमान होते हैं। अन्य मन्दिरों की परिक्रमा में सीमित देवताओं की परिक्रमा होती है, किंतु गाय की परिक्रमा में सभी देवताओं, तीर्थों, कुलपर्वतों की परिक्रमा हो जाती है।

वेद, रामायण, मन्वादि, धर्मशास्त्र के अनुसार भारतीय संस्कृति यज्ञ भावना से ओत-प्रोत है। यज्ञ में हवि और मन्त्र का ही प्राधान्य होता है। दुग्ध, दधि, घृतादि हवि गौ में और मन्त्र ब्राह्मणों में निहित होते हैं। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक सर्वेश्वर शक्तिमान भगवान् राम गो-ब्राह्मण के रक्षणार्थ ही नंगे पाँव वन-वन में भटके और उनके चरणबिन्दु दण्डक-कंटक-विद्ध हुए। भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र परमानन्द कंद ने भी श्रीमद्वृन्दावनधाम में नंगे पांव गोचारण का व्रत लेकर गोवंश का सर्वोत्कृष्ट माहात्म्य प्रख्यात किया।

स जीवतिगुणायस्य धर्मो यस्य च जीवति।
गुणधर्मविहीनस्य जीवनं निष्प्रयोजनम् ॥

गोवंश के नाश से सबका नाश ध्रुव है— इसी दृष्टि से दिलीप, मान्धाता, नहुष आदि नरेश उसकी रक्षा के लिए बद्धपरिकर और प्राणाहुति तर्पण के लिये सदा प्रस्तुत रहते थे। दुर्भाग्य से इस देश में शताब्दियों से गोहत्या का काला कलंक चल रहा है। इसको रोकने के लिए अनेक सत्पुरुषों ने प्रयास किया।। फलस्वरूप कई बार मुगल बादशाहों ने भी शाही फरमानों द्वारा गोहत्या पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिया था परन्तु काल-क्रम से यह फिर भी चलता रहा।

गोहत्या के पक्ष की दलीलें निम्न रूप से दी गईं -

१ - गोहत्या सम्पूर्णरूप से बन्द कर दी जायेगी तो देश के गोमांसभक्षियों को मांस प्राप्ति में बाधा पड़ेगी।

२—मारे हुए जानवरों से मिलने वाले मजबूत चमड़ों के अभाव में जूता, बूट तथा अन्य उपयोगी चर्म वस्तुओं की प्राप्ति में बाधा पड़ेगी।

३—हर एक बड़ी मशीन के चलाने में बड़े चमड़े के पट्टे अपेक्षित होते हैं। उसके बिना सभी मशीनें बंद हो जायेंगी।

४—अनेक चमड़ों के कारखाने बन्द हो जायेंगे एवं उनके कर्मचारी बेकार हो जायेंगे।

५— गायों-बैलों के रक्त, चर्बी तथा अतड़ियों से अनेक औषधियाँ बनती हैं। गोहत्याबन्दी से उक्त औषधि निर्माणों तथा उनके व्यापारों में घाटा पड़ेगा।

६ – गायों-बैलों की संख्या वृद्धि से उनके लिए चारे की समस्या उठ खड़ी होगी जिसके फलस्वरूप उपयोगी अनुपयोगी सब प्रकार के गायों-बैलों का नाश होगा, अतः जैसे उपयोगी पौधों की रक्षा एवं वृद्धि के लिये अनुपयोगी पौधों का सफाया अनिवार्य है, वैसे ही उपयोगी गायों-बैलों की रक्षा के लिये अनुपयोगी गायों-बैलों का सफाया अनिवार्य है।

७—गायों-बैलों के पालन, संवर्धन तथा नस्ल-सुधार का ही प्रयत्न करना उचित है, गोवध-निषेध का नहीं।

८— गोहत्या बन्दी कानून से मुसलमानों के धर्म एवं जीविका पर हस्तक्षेप होगा।

उपर्युक्त तर्कों पर विचार करने से उनकी निस्सारता स्पष्ट हो जाती है। गोवंश का रक्षण एवं पालन सभी के लिये लाभदायक है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सभी के लिये दूध, दही, मक्खन, मट्ठा सुलभ होगा, इससे सभी का स्वास्थ्य समुन्नत होगा। एक गाय के मांस द्वारा एक दो दिन दस पाँच आदमियों को भोजन मिलता है, परन्तु उसी गाय के जीवित रहने पर उससे कई गाय एवं कई बैल प्राप्त होते हैं। स्वास्थ्यकर दूध, दही, मक्खन, मट्ठा वर्षों तक प्राप्त होते रहते हैं। कीमती खाद तथा बैलों द्वारा उत्तम अन्न की भी प्राप्ति होती है। जिसके बिना केवल मांस से प्राणी का जीवन ही

श्रुतिस्तु वेदोविज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभो॥ —मनुस्मृति २/१०

नहीं चल सकता । अतः सर्वजनहिताय, अधिक स्वात्महिताय भी मांस खाने का प्रलोभन छोड़कर गोपालन ही श्रेष्ठ है, गोमांस भक्षण नहीं। इसके अतिरिक्त जब गोवंश सर्वजनहितकारी होने के साथ साथ भारतीय राष्ट्र की संस्कृति, धर्म, सभ्यता तथा सम्मान का केन्द्र बिन्दु है, तब उसके मांस खाने का विचार ही राष्ट्रीयता एवं मानवता विरोधी है।

द्वितीय, तृतीय तर्क पर विचार करने पर वह भी नगण्य ही सिद्ध होता है। आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है। काष्ठादि इन्धनों की कमी होने पर पत्थर के कोयलों का अन्वेषण हो गया। उसकी भी कमी महसूस होने पर पेट्रोल और फिर बिजली का आविष्कार हुआ। मोटरों के लिए रबड़ के टायरों का आविष्कार हो गया। इसी तरह स्वतः मरे हुये पशुओं के चमड़े में ही कोमलता एवं मजबूती लाई जा सकती है, जिससे जूते, बूट आदि का काम चल सकता है। पट्टे का भी काम निकाला जा सकता है। रबड़ से भी मजबूत पट्टों तथा अन्य रासायनिक वस्तुओं से वैसी वस्तुओं का निर्माण हो सकता है। जब गायों-बैलों के जीवन का सर्वाधिक उत्कृष्ट से उत्कृष्ट उपयोग हो सकता है, तब उक्त क्षुद्र कार्यों के लिए उनकी हत्या को प्रोत्साहन देना मूर्खता के साथ-साथ कृतघ्नता भी होगी।

चतुर्थ तर्क भी निस्सार है, कारण, अंग के लिए अंगी नहीं होता, किंतु अंगी के लिए अंग होता है। प्रसिद्ध है —

"अंजन कहा आँख जेहि फूटै।"

जब गाय- बैल की हत्या का औचित्य सिद्ध हो, तभी उसके लिए कसाईखाने एवं उसके चमड़ों के उपयोग के लिए कारखानों की उपयोगिता सिद्ध होती है। यह नहीं हो सकता कि कसाईखानों एवं चमड़ों के कारखानों की सार्थकता या उनके कर्मचारियों की बेरोजगारी दूर करने के लिये गाय-बैलों को काटा जाय।

पाँचवाँ तर्क भी इसी प्रकार का है। गाय-बैल के द्वारा प्राप्त खेती की सुविधा बैल एवं खाद का लाभ परमावश्यक अन्न का साधन है। दूध, दही, मक्खन स्वयमेव एक महान औषध है। अतः उसके उक्त चर्बी आदि से औषधि निर्माण अनावश्यक ही है। वैसे भी आजकल जान्तव अंगों की अपेक्षा हर एक औषधि का वनस्पतियों से निर्माण होने लगा है। अतः उन कारखानों को चालू रखने के लिये भी गाय बैल की हत्या जारी रखना उचित नहीं है।

छठा तर्क भी इसी प्रकार है। मनुष्यों के लिए अधिक अन्न उपजाने का ही प्रयत्न किया जा रहा है। जब मनुष्यों के लिए अन्न उपजेगा तो पशुओं के लिये चारा का उपजना भी अनिवार्य ही है क्योंकि बिना चारा के अन्न पैदा ही नहीं होगा। अभी तो करोड़ों रुपयों की खली, जो गायों-बैलों का चारा-आहार है, बाहर भेजी जा रही है। यदि घर में ही चारे की कमी है तो खली बाहर क्यों भेजी जाती है।

राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः खले खलाः।
राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः॥

जो समझते हैं कि अनुपयोगी पशुओं को कत्ल करके चारे की समस्या भी हल कर लेना ठीक है, उनकी बुद्धि पर आश्चर्य ही करना पड़ेगा। ऐसे लोग यह भी सोच सकते हैं कि लूले, लंगड़े, बूढ़े औरत-मर्दों को खत्म करके नौजवान औरत-मर्दों के अन्न-वस्त्र की समस्या को सुलझाना चाहिये। यह सब दानवता है, मानवता नहीं। ऋषियों महर्षियों के देश में बुद्ध, महावीर, गांधी की अहिंसा-साधना की भूमि में ऐसे विचारों को कोई स्थान नहीं है।

शेष तर्क भी उचित नहीं हैं। केवल गोपालन, गोसंवर्द्धन मात्र से गोरक्षण नहीं हो सकता। जैसे बकरा-बकरी का पालन संवर्द्धन केवल खाने के लिये ही होता है, उसी तरह जो गोवंश हत्या पर प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहते, उनके यहाँ गोपालन भी केवल भोजन का ही साधन होगा। अतः गोपालन के साथ गोहत्या निरोध पर भी बल देना अत्यावश्यक है। लोग कहते हैं कि यदि हिन्दू गोपालन-गोसंवर्द्धन में लग जायें और गो विक्रय न करें तो अपने आप ही गोहत्या बन्द हो सकती है। पर वे यह क्यों भूल जाते हैं कि गाय केवल हिन्दू के पास ही नहीं है? अन्यों के पास भी तो हैं। अतः गोहत्या निरोध कानून के बिना पूर्ण गोहत्या बन्द नहीं हो सकती। जैसे आत्महत्या, सुरापान, भगिनी-विवाह आदि का व्याख्यान, उपदेश, लेख आदि के द्वारा निषेध होने पर भी कुछ लोग ऐसे जघन्य कार्यों में भी प्रवृत्त हो सकते हैं। उन्हें रोकने के लिए आत्महत्या निरोधक आदि कानून आवश्यक होते हैं, उसी तरह गो-विक्रय-निषेध प्रचार करने पर भी कुछ लोग प्रलोभनवशात् विक्रय में प्रवृत्त हो सकते हैं। चीनी मिलों का विस्तार होता जाय, गन्नों की कीमत बढ़ा दी जाय और गन्ने मिलों में न भेजे जायें, किन्तु कोल्हू में पेरकर उनसे गुड़ बनाया जाय —यह उपदेश देना जैसे सफल नहीं होता, वैसे ही जगह-जगह कसाईखाने खोल दिये जायें और लूली-लंगड़ी, बूढ़ी गायों की भी कीमत बढ़ा दी जाय और फिर उपदेश दिये जायें कि लूले, लंगड़े, बूढ़े गाय-बैल भी न बेचे जायें, तो ऐसा उपदेश करना निरर्थक ही होता है।

लोभ-मोह के वश होकर जनता जो काम करती है, उसे ही रोकने के लिए कानून बनाने की आवश्यकता पड़ती है। इसी दृष्टि से शराबबन्दी आदि कानून बनाये गये हैं। गोहत्या तो सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक सभी दृष्टियों से अत्यन्त हानिकारक है। अतः उसके निषेधार्थ सम्पूर्ण गोवंश-हत्याबन्दी का कानून होना ही चाहिये।

धर्माय राजा भवति न कामकारणाय तु। मान्धातः विजानीहि राजा लोकस्य रक्षिता।
धर्मे तिष्ठन्ति भूतानि धर्मो राजनि तिष्ठति।

—महाभारत

परमार्थ सद्वस्तु की एकता

[सर्वसाधारणजन इस भौतिक शरीर को ही मानकर जानकर अपने लौकिक सांसारिक व्यवहार सम्पन्न करते-करते न जाने कहाँ को चले जाते हैं परन्तु इस स्थूल शरीर के अतिरिक्त सूक्ष्म कारणादि शरीर भी विद्यमान है जिन पर यह टिका है, जिनसे यह चलता है। यौगिक क्रियाओं के माध्यम से इन तीनों शरीरों में सामंजस्य बना रहता है।

स्वामी जी ने इस बहुत गम्भीर शास्त्रीय विषय को अपनी अनुभूतियों के आधार पर भुशुण्डि-वशिष्ठ संवाद के व्याज से संक्षेप में इस निबन्ध में रखा है। इसमें उन्होंने निरूपित किया है कि परमार्थ दृष्टि से एक मात्र ब्रह्म ही अद्वितीय है, उस निर्धर्मक ब्रह्म में वस्तुतः एकत्व धर्म भी कल्पित ही है। द्वित्व-एकत्व दोनों ही ब्रह्म में कल्पित है—वह परमार्थ सततत्व सर्वथा एक ही है। ब्रह्मज्ञानी, धर्मसम्राट्, महान योगी, वेदान्तनिष्ठ स्वामी जी की अद्भुत लेखनी का विद्वज्जन जरा समास्वादन करें]

शरीररूप यन्त्र में अनेकरूप से प्राणवायु का गमनागमन होता रहता है। भुशुण्डि-वशिष्ठ-संवाद के अनुसार भुशुण्डि प्राणापान के ही अनुसंधान में लगे रहते हैं—सोते, जागते, उठते, बैठते स्वाभाविक प्राणायाम होता रहता है। हृदयकमल से बिना यत्न ही जो प्राण का बाह्योन्मुख गमन होता है, वही रेचक है और बाहर से भीतर जाने वाले अपान के साथ स्वाभाविक ही पूरक हो जाता है। नासिका से द्वादशांगुल पर्यन्त बाहर निकलकर प्राण समाप्त हो जाता है। कुछ क्षण के अनन्तर ही वहीं से भीतर जाने के लिए अपान उत्पन्न होता है। प्राण एवं अपान के उत्पन्न न होने तक बाह्य कुम्भक रहता है। प्राणापान पर ही चित्त के रहने से प्राण के समाप्त होने और अपान के उदय न होने तक चित्त भी क्षीण रहता है। उस समय प्राणपानरहित, चित्तरहित अतएव देश-कालरहित शुद्ध बोधस्वरूप आत्मा व्यक्त रहता है। वही निर्दृश्य अखण्ड भान ब्रह्म है। यही स्थिति आन्तर कुम्भक की भी है। बाहर से भीतर हृदय पर्यन्त जाकर अपान क्षीण हो जाता है। तब कुछ काल के अनन्तर प्राण उत्पन्न

धर्मो जयति नाधर्मः सत्यं जयति नानृतम्।
क्षमा जयति न क्रोधो विष्णुर्जयतिनासुरः ॥ —गरुड़महापुराण

होता है । यहाँ अपानक्षय और प्राणोदय काल सन्धि में कुम्भक होता है । वहाँ भी प्राणापान, चित्त
और देश काल रहित बाह्याभ्यांतर एकरस निर्भास्य शुद्ध भान व्यक्त होता है । बाह्य कुम्भक की दृष्टि
मे रेचक के ही अर्द्ध बाह्य भाग को पूरक कहा जाता है अर्थात हृदय से मूर्धापर्यन्त प्राणगति को रेचक
और नासिका से बाह्य द्वादशांगुल पर्यन्त प्राणगति को पूरक कहा जाता है । बाहर से भीतर जाने वाले
अपान में पूरकता प्रसिद्ध ही है "अपानेऽस्तङ्गते प्राणा यावन्नाभ्युदितो हृदि । तावत्सा कुम्भकावस्था
योगिभिर्यानुभूयते । द्वादशांगुलपर्यन्ते नासाग्रसमसम्मुखे । व्योम्नि नित्यमपानस्य तं विदुःकुम्भकं बुधाः ।"
जैसे छाया के नष्ट होने पर आतप और आतप के नष्ट होने पर छाया आती है, वैसे ही प्राण के पश्चात
अपान और अपान के पश्चात प्राण आता है । प्राण के अस्त होने पर अपान के अभ्युदय के प्रथम ही
बाह्य कुम्भक का आश्रय करना चाहिए । इस तरह अपान के अस्तङ्गत होने और प्राणोदय के प्रथम
ही आंतर कुम्भक का आश्रयण करना चाहिये । शनैः शनैः इसी सन्धि के विस्तृत करने से सम्यक्तया
तत्त्वदर्शन होता है—"अस्तङ्गतवति प्राणे त्वपानेऽभ्युदयोन्मुखः बहिःकुम्भकमालम्ब्य चिरं भूयो न शोच्यते
अपानेऽस्तङ्गते प्राणे किञ्चिद्भ्युदयोन्मुखे । अन्तःकुम्भकमालम्ब्य चिरं भूयो न शोच्यते ।।" वस्तुतः
शुद्ध चित्स्वरूपं ब्रह्म ही प्राणरूप और वही अपानरूप धारण करता है । दोनों ही सन्धि में शुद्ध स्वा-
त्मस्वरूप से वह दर्शन देता है । इसीलिए प्राणपान का मध्य शुद्ध चिदात्मा ही है, वही प्राण का प्राण,
मन का मन, सत्य का सत्य, ज्योतियों का ज्योति तथा जीव का जीवन है ।

देहेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार सब के सब वस्तुतः असत् हैं । जैसे द्वितीय चन्द्रमा न होता
हुआ ही भासित होता है, वैसे ही देहादि न होते हुए ही संकल्पमात्र से भासित होते हैं । दृष्टिसृष्टि-
सिद्धांतानुसार केवल देहप्रत्ययकाल में ही देह रहता है । स्वप्न के संकल्पमय देह से अनेक व्यापार होते हैं,
वह देह क्या सत्य है ? जाग्रत मनोराज्य में जिस देह से स्वर्ग या सुमेरु की यात्रा होती है, क्या वह
सत्य है ? कभी-कभी स्वप्न में भी स्वप्न होता है, वहाँ कल्पित देह से ही दिशाओं, विदिशाओं में परि-
भ्रमण होता है, क्या वह देह सत्य है ? संकल्पमयी कांता और उससे सम्बद्धते देह सब मिथ्या होना है ।
इसी तरह जाग्रत काल, देश तथा देहादि वस्तु सब केवल संकल्पमय ही हैं । तीव्र संवेग और दृढ़ता के
साथ चिराभ्यस्त भावना स्थूलरूप धारण कर लेती है । चित्रदेह से भी यह देह अधिक अस्थिर और
विनाशी है । आधि, व्याधि, परिम्लानि, क्लिन्नता, नश्वरता चित्रदेह से भी अधिक इस मांसमय देह की
है । रक्षा की जाय, तो चित्रपुरुष की शोभा बहुत दिनों तक बनी रहती है, परन्तु मांसमय देह की तो
कितनी भी रक्षा क्यों न की जाय, किन्तु इसका ध्रुव विनाश है । दीर्घ संकल्पजन्य यह मांसमय देह स्वप्न
संकल्पजन्य देह से भी तुच्छ है, क्योंकि अल्प संकल्पजन्य देह दीर्घ दुःख से बाधित नहीं होता, परन्तु यह

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः ।
वेदो नारायणः साक्षात्स्वयम्भूरिति शुश्रुम ।। --श्रीमद्भागवत

तो दीर्घ दुःख से दुःखी होता है—"स्वप्नसंकल्पजाद्देहादपि तुच्छतरो ह्ययम् । अल्पसंकल्पजो दीर्घैः सुख-दुःखैर्न गृह्यते ।। दीर्घसंकल्पजश्चायं दीर्घदुःखेन दुःखितः ।।"

चित्तमय, संकल्पमय, मनोराज्यमय पुरुष के क्षीण होने पर आत्मा की क्षति नहीं होती। द्वितीय चन्द्र के क्षीण होने पर, स्वप्नसंरम्भ के समाप्त होने पर भी आत्मा का कुछ भी नहीं बिगड़ता। दीर्घस्वप्नमय चित्तसंकल्पकल्पित देह के भूषित या दूषित होने पर भी चित्स्वरूप आत्मा सर्वदा असंस्पृष्ट रहता है। रज्जु में भुजंगबुद्धि के समान ही चित् में देहबुद्धि उत्पन्न हुई है। कल्पान्त में अवशिष्ट चिन्मात्र ही सब कुछ है। दृश्य चैत्य अत्यन्त ही असम्भव अतएव असत् है। स्वप्नपुरतुल्य इस विश्व में सिवा शुद्ध चित् के दूसरी वस्तु है ही नहीं। स्वप्न के घट-पटादि सभी जैसे चिद्व्योममात्र ही हैं, वैसे ही सर्गादिकाल से ही सब कुछ चिद्व्योममात्र ही है। स्वप्नपत्तन की जैसे सभी वस्तु चिन्मात्र ही है। वैसे ही त्रिभुवन की सभी वस्तुएं शुद्ध संवित् ही हैं। त्रिकाल के भावाभाव सर्वपदार्थविषयिणी दृष्टियाँ तथा देश, काल एवं चित्त सब कुछ शुद्ध चिद्व्योममात्र है। चिन्मात्र तत्त्व ही सर्व संसार का सार है। वही प्रपञ्चारोप दृष्टि से कर्त्ता, भोक्ता, धारयिता है। वही इस शरीररूप पुरी में रहने वाला पुरुष तथा हृद्गुहावासी गुहेश्वर है। वह अत्यन्त विमल चित् ही जगदर्थ सम्पूर्ण क्रिया को विकासित करती है। आकाश, जीव, चित्त, कला, क्रिया, द्रव्य, षड्भावविकार, गति, प्रकाश, तम, पर्वत, अर्क, इन्द्रादि अनेक रूप में वह चित् ही चमत्कृत होती है। वही चित् कहीं चतुर्भुज, कहीं त्रिनेत्ररूप से, अनेक लीला करती है। वह चिच्चन्द्रिका ही चारों दिशाओं में प्रकाश फैलाती हुई भूतसत्तारूपिणी कुमुदिनी को विकासित करती है। महाचिद्दर्पण में ही सम्पूर्ण जगत्प्रतिबिम्ब प्रतिभासित होते हैं। भास्करादि महाप्रकाश भी इसी नित्यसुखसंवित्स्वरूप चित् मे ही प्रकाशित होते हैं। विमल चिच्चन्द्र में जगज्जाल शशलाञ्छन के समान प्रतिभासित होता है। कोई भी क्रिया, कोई भी संकल्प इस महाचित् के अनुग्रह के बिना स्फुरित नहीं हो सकते। रसना के अग्रभाग पर विद्यमान भी रस इस चिदलोक के बिना स्फुरित नहीं हो सकता। शरीर और उसके प्रत्येक अङ्ग, क्रिया तथा इन्द्रिय, बुद्धि, मन आदि सभी चिद्व्याप्ति के बिना प्रकाशित नहीं होते। सुशीला स्त्री ही जैसे स्वप्नसंकल्पवशात् पत्यन्तरसम्बन्ध से दुःशीला-सी हो जाती है, वैसे ही परमनिर्विकल्प महाचित् ही चलनोन्मुख-सी होकर देहादिरूप भी बन जाती है। वही पुरुष, जो कभी शांत, देवोपम होता है कोपवशात् क्षण में जैसे राक्षसवत् हो जाता है, वैसे ही विकल्पकलंकित महाचित् भी दोषवषात् कूटस्थ निर्विल्प चित् से अन्य ही जैसी हो जाती है।

वही चित् साकाश परमाणु, तन्मात्रा, जीव, बुद्धि, अहंकार, मन सब कुछ बन जाती है। फिर भी सब कुछ मायिक भ्रममात्र है, वास्तव में कहीं भी कोई कुछ नहीं हुआ। भ्रम के कारण द्विज अपने को चण्डाल मान लेता है, राजपुत्र व्याध बन जाता है, भ्रम के कारण ही कौन्तेय कर्ण अपने

सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते ।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः ।। —महाभारतकार

को दासीपुत्र समझकर खिन्न होता रहा है । उसी तरह अविकृत कूटस्थ चिद्ब्रह्म में अनिर्वच-
नीय माया के वैभव से विश्वप्रपञ्च स्फुरित होता है । अनन्त संकल्पमयी चित् वैसे ही, महाजड़ता
को प्राप्त हो जाती है, जैसे जल पाषाणता को प्राप्त हो जाता है । मोह, तृष्णा, काम, क्रोध, भयादि
विकारों के समावेश से अपनी अनन्तता को भूलकर वहीं परिछिन्न अनेक आकार वाली हो जाती है ।
दुःखदावानलसन्तप्त शोकक्रश वह देहमात्र को आत्मा मानकर दैन्यभाव को प्राप्त हो जाती है । पंकमग्न
जीर्ण वनगजी के समान अथवा यूथभ्रष्ट मृगी के समान विवशता को प्राप्त हो जाती है । इस तरह
संकट से संकट में, दुःख से दुःख में निपतित होती हुई नाना अनर्थों से परिष्कृत परितापानुतापिनी
विचित्र अवस्था को प्राप्त हो जाती है । सर्वतः शंकमाना अल्पतोयसरोवरस्थ मीन के समान व्याकुल
होकर मृतावस्था को भी वही चित् प्राप्त होती है । बाल्यकाल में विवशता, यौवन में चिन्ता, वार्धक में
अतिदुःख का अनुभव करके मरकर कर्मवशस्वर्ग में देवी, पाताल में नागी, दैत्यविवर में आसुरी, वसुधा
में मानुषी, किंबहुना राक्षसी, वानरी, सिंही, किन्नरी, विद्याधरी, व्याली, खगी, मृगी, लता आदि
अनेक अवस्थाओं में वही चिति गयी है और वही दिव्यरूप से शेषशायी नारायण, शिव, इन्द्र तथा सर्व-
भासक भास्कर भी बनी हुई है ।

वही चिति कहीं रसोल्लासवती, कहीं पाषाणमौनिनी, कहीं रसवती नदी, कहीं कुमुदविस्तृति
कहीं हिम, कहीं वाडव, कहीं उज्वलिताकारा, कहीं कष्टकारा, नीला, हरिता अग्नि-महीभाव को प्राप्त
होती है । सर्वात्मा एवंसर्वस्वरूप होने से सर्वरूप में एक चित् का ही सर्वत्र उपलम्भ होता है । अमृत होते
हुए भी अपने को मृत मानकर, निर्दुःख होते हुए भी सदुःखी मानकर भ्रांतिवश संसरण करना पड़ता
है । संक्षेपतः चित्त के द्वारा ही चिति को संसार का अनुभव होता है । वह चित्त स्वयं ही चित् से पृथक
कुछ नहीं है, चित्त-चेत्य, दृश्य-दर्शन-द्रष्टा यह सभी पाषाण तैल के सदृश अत्यन्त असत् हैं । माता,
मान, मेय, अहन्ता, त्वन्ता, अन्यता सभी आकाशांकुर के समान असत् हैं । आकाश में पर्वतत्व, कज्जल
में शंखत्व के समान ही आत्मा में सम्पूर्ण दृश्य है । वस्तुतः अत्यन्त स्वच्छ, निर्विकल्प, अद्वितीय, परम
चित् ही सब तेजों की भी भासिका है । जाग्रत और स्वप्न में प्रपञ्चसंवलित, सुषुप्ति में अज्ञान साक्षि-
रूप से उपलब्ध होती है । नेत्र, दीप्ति, रूप और मनन, त्वक्, वायु, स्पर्श, मनन, गन्ध, घ्राण, मनन
सर्वत्र इन्द्रिय और मन के व्यापार से अतिरिक्त शुद्ध संवित स्पष्ट भासमान होती है । चित् का जीव
रथ है, जीव का अहंकार, अहंकार का बुद्धि, बुद्धि का मन, मन का प्राण, प्राण का इन्द्रियगण, इन्द्रिय-
गण का देह, देह का स्पन्दरूप कर्म ही रथ है । स्पन्द भी केवल प्रतिभासमात्र है । प्राण तथा मन का
असाधारण सम्बन्ध है, प्राण की प्रेरणा से ही मन के व्यापार होते हैं । साथ ही मन के भी ब्रह्मलीन

वेदोऽखिलो धर्ममूलम् । —मनुस्मृति

होने पर प्राण निस्पन्द हो जाता है। प्राण और मन के तत्त्वज्ञान द्वारा क्षीण होते ही संसार समाप्त हो जाता है।

यद्यपि यह शंका होती है कि अद्वितीय परमात्मा में द्वित्व कैसे आया ? स्वतः अथवा अन्यतः। निरवयव तथा निर्विकार होने से स्वतः नहीं कहा जा सकता। द्वितीय की अप्रसिद्धि से दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है। यदि निर्निमित्त ही द्वित्व का आगमन है, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि फिर तो तत्त्वज्ञान से भी उसका निवारण अशक्य होगा। निवारण होने पर पुनः-पुनः द्वित्व का उदय होता ही रहेगा। निर्निमित्त एक बन्धन का भी उच्छेद अप्रसिद्ध है। कथञ्चित एक का उच्छेद हो भी जाय, तो भी निर्निमित्त अनन्त बन्ध पुनः-पुनः उत्पन्न होते रहेंगे। यदि ब्रह्मशक्तिभूत माया को ही द्वित्व का निमित्त कहा जाय, तो भी यही प्रश्न होगा कि वह आगन्तुक है अथवा सहज। प्रथम पक्ष में भी स्वतः उत्पन्न है अथवा अन्य सम्बंध से। स्वतः उत्पन्न है, तब तो उससे छुटकारा असम्भव है, अतः अनिर्मोक्षापत्ति बनी रहेगी। यदि अन्य से उत्पन्न है, तो अनवस्थादि दोष होंगे। अग्नि की उष्णता के समान सहज कहें तब भी उसका अपनयन सम्भव नहीं होगा। श्रुति ब्रह्म की एकरसता का प्रतिपादन करती है, उससे भी विरोध होगा। यदि मायाशक्ति अत्यन्त असत् है, तब तो उसके द्वारा कार्योत्पत्ति असम्भव होगी। यदि सत्य है, तो ज्ञानमात्र से उसकी निवृत्ति सम्भव न होगी। फिर भी अनिर्मोक्षापत्ति होगी। सत्वा-सत्व-व्यतिरिक्त तृतीय अविद्या कोई सम्भव नहीं है, क्योंकि फिर तो यह तृतीयविद्या ज्ञानोत्तरकाल में भी बनी रह सकती है। ज्ञान कारक नहीं होता, अतः ज्ञान के द्वारा भी स्वरूप-परिवर्तन सम्भव नहीं होगा। अन्य की अन्यात्मता सम्भव भी नहीं। ज्ञानद्वारकृत मोक्ष में विनश्वरता भी अनिवार्य रहेगी। तथापि तत्त्वज्ञान होने पर इन शंकाओं का अवकाश नहीं होता, क्योंकि जीव जगदादि द्वैतप्रपञ्च की प्रामाणिकता का प्रतिपादन सिद्धांती को इष्ट नहीं, वह तो मोह के कारण अनादिकाल से ही भ्रान्ति से प्रसक्त है, केवल अध्यारोपापवादन्याय से ही सृष्ट्यादि का वर्णन है। सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय माया एवं काम, कर्म, वासना को निमित्त बनाकर प्रपञ्चोत्पत्ति सम्भव है। इसी दृष्टि से व्यष्टि-समष्टि, स्थूल, सूक्ष्म, कारण प्रपञ्च का वर्णन है। सब कुछ सर्वथा असत्य होने पर भी लोकप्रबोधनार्थ लौकिक-वत् वर्णन किया जाता है। प्रयोजन अद्वैतशास्त्र का परमार्थ सत्त्व है, बस इसी दृष्टि से इतरवादि-कल्पनाओं से इसकी उपपत्तियाँ भी उत्कृष्ट हैं। तत्त्व-परिचय हो जाने पर सबका ही अपवाद किया जाता है; अतः यदि तत्त्व की एकता स्वीकृत कर ली गयी, तो उसमें तद्विरुद्ध द्वित्वसम्भव की शंका ही अभ्युपगम विरुद्ध और सिद्धांत-विरुद्ध भी है। परमार्थदृष्टि से ब्रह्म सर्वथा अद्वितीय है, परन्तु मायामय व्यवहार की दृष्टि से वह शक्तिविशिष्ट है। बस इस दृष्टिभेद से सम्पूर्ण शंकाओं का समाधान हो जाता है। द्वित्व की व्यावृत्ति के लिये ही ब्रह्म में एकत्व का भी व्यवहार होता है। निर्धर्मक ब्रह्म में वस्तुतः

परित्यजेदर्थकामो यो स्यातां धर्मवर्जितौ।

एकत्व धर्म भी कल्पित ही है। अपेक्षाबुद्धि से ही द्वित्वव्यवहार भी होता है। अतः एकत्व सापेक्ष ही द्वित्व भी है। अतएव द्वित्व- एकत्व दोनों ही ब्रह्म में कल्पित ही हैं। एक ही बीज से अंकुर, नाल, स्कंध शाखोपशाखा, पुष्प, फलादि व्यावहारिक द्वैत उत्पन्न होता है। वस्तुतः विकारों की कारण से अतिरिक्त, पारमार्थिक सत्ता से अतिरिक्त व्यावहारिक सत्ता भी अस्वीकृत है। तो भी 'राहोः शिरः' के समान अभेद में ही भेदविकल्प के समान अद्वितीय ब्रह्म में ही द्वितीय का विकल्प होता है। सत् से ही विकार का उत्थान केवल भोगार्थ होता है। भोग का पर्यवसान केवल चित् में ही होता है इस दृष्टि से सर्वत्र चित् ही सार है। जब सभी जगत् ही विकल्पमात्र है, तब समुद्र के व्यावहारिक जल, तरंग, मरुमरीचिकातोय के प्रातिभासिक तरंग तथा वन्ध्यापुत्र, शशशृंगादि अत्यन्त असत् हैं। इन विभिन्न सत्ताओं की कल्पना भी अज्ञदृष्टि से ही सार्थक है। "अपागादग्नेरग्नित्वं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यं, वाचारम्भणं विकारो नामधेयं" के अनुसार विकार मात्र मिथ्या हैं, परमार्थ सतत्त्व सर्वथा एक ही है।
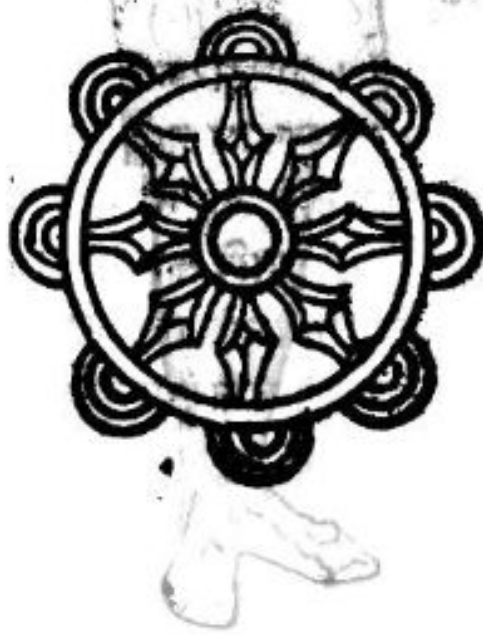
दया धर्मस्य जन्मभूमिः --चाणक्य

ज्ञान और आनन्द

['ज्ञान' और 'आनन्द' दो ऐसे शब्द हैं जिन्हें परिभाषा की सीमा में आबद्ध करना साहस का कार्य है। साधारण ज्ञान तो जीवमात्र को होता है इसी प्रकार सीमित आनन्द की अनुभूति भी सभी प्राणियों को होती है, हम सांसारिक प्राणी स्वल्पज्ञान एवं स्वल्पानन्द को प्राप्त करके ही अपने को कृतकृत्य मान लेते हैं; परन्तु स्वामी श्री करपात्रीजी महाराज ने न्याय-मीमांसा एवं दार्शनिक आधार पर ज्ञान और आनन्द की विवेचना की है वह अद्भुत है विलक्षण है, पढ़कर बुद्धिमानों की बुद्धि एवं मनीषियों की मनीषा चमत्कृत हो उठती है; पाठक धैर्य पूर्वक पढ़कर स्वयं अनुभूति कर लाभान्वित हों।]

ज्ञान के सम्बन्ध में अनेक प्रकारों की विप्रतिपत्तियों के रहते हुये भी 'अर्थप्रकाश' को ही 'ज्ञान' कहा जा सकता है। मुक्ति में यद्यपि अर्थ नहीं होता, तथापि जब अर्थ-संसर्ग सम्भव हो, तभी अर्थ का प्रकाशक अर्थ ही ज्ञान है। अतएव 'ज्ञानत्व जातिविशेष है, साक्षात् व्यवहारजनकत्व ही ज्ञानत्व है, जड़विरोधित्व ही ज्ञानत्व है, जड़ से भिन्नत्व ही ज्ञानत्व है, अज्ञानविरोधित्व ही ज्ञानत्व है' आदि भी ज्ञान के लक्षण हैं। इसमें से कोई लक्षण वृत्तिप्रतिबिम्बित चिदाभास में सङ्गत होता है, तो कोई अखण्ड ब्रह्मरूप ज्ञान में जाता है, किन्तु अर्थप्रकाशत्व वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्यरूप ज्ञान एवं ब्रह्मरूप ज्ञान दोनों में ही अनुगत है।

सर्वावभासक ज्ञान ही ब्रह्म है, क्योंकि यह श्रुति प्रमाण है—"तस्य भाषा सर्वमिदं विभाति।" सर्वप्रेमास्पदत्व, सर्वानन्दयितृत्व ही आनन्द है। "एष ह्येवानन्दयति"— यह ब्रह्म ही आनन्दित कराता है। यह सर्वावभासक ज्ञान स्वतः भासमान होता है। यदि उसका भी कोई अन्य भासक माना जायेगा, तो उसका भी भासक कोई अन्य मानना पड़ेगा, इस तरह अनवस्था दोष अनिवार्य्य हो जायेगा। इस पर कहा जाता है कि 'यदि ज्ञानस्वरूप ब्रह्म सर्वदा भासमान है, तो उसमें जगत् का अध्यास किस तरह बन सकेगा, क्योंकि भासमान शुक्तिका में रजत का अध्यास नहीं होता—जैसे शुक्तिका भान रजताध्यास का विरोधी होता है, वैसे ही ज्ञानस्वरूप ब्रह्म का भासमान होना भी प्रपञ्चाध्यास का विरोधी होगा।' किन्तु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि सर्वथा अभासमान शुक्तिका में तो रजताध्यास कभी भी नहीं होता, सामान्यतया भासमान शुक्त्यादि अधिष्ठान में ही रजतादि का अध्यास होता है। अभासमान एवं विशेषाकारेण भासमान अधिष्ठान में अध्यास नहीं होता। इस तरह सामान्यतया

"नवनीतोपमा वाणी करुणाकोमलं मनः।
धर्मं बीजप्रसूतानेतत्प्रत्यक्षलक्षणम्॥" पद्मपुराण १/५१/१३१-३२

भासमान ज्ञानस्वरूप ब्रह्म से प्रपञ्चाध्यास बन सकता है ।

इस पर पुनः कहा जा सकता है कि 'निर्विशेष ब्रह्म में सामान्य-विशेष व्यवहार नहीं बन सकता ।' पर यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जब तक अविद्या है, तब तक निर्विशेष ब्रह्म में भी कल्पित विशेष मान्य होता ही है । निर्विशेष ब्रह्म में प्रपञ्चाध्यास माना भी नहीं जाता, किन्तु अज्ञानावच्छिन्न सविशेष में ही प्रपञ्च का अध्यास होता है । तथाच प्रपञ्चाध्यास का अधिष्ठानभूत ब्रह्म का सामान्याकार सन्मात्र है और विशेषाकार ज्ञान एवं आनन्द है। भ्रमकाल में विशेषाकार की प्रतीति नहीं होती, सामान्याकार प्रतीति भ्रमकाल में भी होती है । 'इदं रजतम्' के समान ही 'सज्जगत्' यह भ्रम-प्रत्यक्ष होता है । जैसे वहाँ 'इदमंश' अधिष्ठान सामान्यांश है, वैसे ही यहाँ सदंश अधिष्ठान सामान्यांश है । जैसे 'शुक्ती रजतम्' इस प्रकार भ्रम नहीं होता, वैसे ही 'ज्ञानमानन्दो वा जगत्' ऐसा भ्रम नहीं होता । जैसे नीलपृष्ठ, त्रिकोण शुक्ति के साक्षात्कार से रजतभ्रम दूर हो जाता है, उसी तरह सत्यज्ञानानन्दस्वरूप ब्रह्म के साक्षात्कार से जगद्भ्रम मिट जाता है । ज्ञानानन्दरूप से अभासमान और सद्रूप से भासमान ब्रह्म में जगत् का अध्यास होता है । अघटित-घटना-पटीयसी माया के कारण ही ब्रह्म में जगत् का अध्यास होता है । "सेयं भगवती माया यन्नयेन विरुद्ध्यते"— भगवान् की माया नय से विरुद्ध होने पर भी प्रत्यक्ष हीं प्रपञ्चाध्यास माया के द्वारा सम्पन्न हो जाता है ।

आनन्द के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार कहा जा सकता है— (१) आनन्दत्व जाति आनन्द है या (२) अनुकूलतया वेदनीयत्व आनन्द है या (३) अनुकूलत्व मात्र आनन्द है या (४) ज्ञानस्वरूपता ही आनन्द है अथवा (५) दुःखविरोधित्व ही आनन्द है या (६) दुःखाभावोपलक्षितत्व आनन्द है ? पहला पक्ष इसलिये ठीक नहीं कि वह लक्षण अखण्डस्वरूप ब्रह्मानन्द में नहीं जाता । दूसरा भी ठीक नहीं, क्योकि मोक्ष में तो आनन्दस्वरूप ब्रह्म ही रहता है, उसे जानने वाला कोई वेदिता रहता ही नहीं । आनन्दस्वरूप आत्मा वेद्य है भी नहीं, अतः वह वेदनीय ही नहीं हो सकता, तब उसमें द्वितीय लक्षण कैसे संगत होगा ? अनुकूलता भी सापेक्ष होती है और वह भी अन्य के प्रति न होकर अपने प्रति ही कहनी पड़ेगी । तथाच, सविशेषता अनिवार्य होगी, निर्विशेष में अपने प्रति अपने में अनुकूल वेदनीयता कथमपि उपपन्न नहीं हो सकती । इसीलिये तीसरा भी पक्ष ठीक नहीं । यदि वेदनस्वभाव से अधिक अनुकूलता स्वाभाविक है, तब भी सखण्डतापत्ति होगी । यदि अनुकूलता औपाधिक है, तब तो उस आनन्द की कभी निवृत्ति भी हो सकती है । चतुर्थ पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि उक्त रीति से अनुकूलता सम्भव नहीं । पांचवा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि इस तरह तो दुःखज्ञान को आनन्द कहना पड़ेगा । निर्विषय ज्ञान अतएव निरुपाधि-इष्टता ही आनन्द है, यह भी ठीक नहीं है । सुख है, यह भी

'श्रुत्वा धर्मं विजानाति श्रुत्वा त्यजति दुर्मतिम् ।
श्रुत्वा ज्ञानमवाप्नोति श्रुत्वा मोक्षमवाप्नुयात् ॥' चाणक्य

नहीं कहा जा सकता क्योंकि ज्ञान सविषय ही होता है, विषयानुल्लेखि ज्ञान होता ही नहीं । छठा पक्ष भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यदि विरोधनिवर्त्तन ही है, तब तो आनन्दरूप आत्मा में सदा ही दुःख-निवृत्ति होनी चाहिये । यदि दुःखतादात्म्य की अयोग्यता ही दुःखविरोधिता है, तब तो घटादि भी दुःख-तादात्म्य के अयोग्य हैं, उन्हें भी आनन्द कहा जाना चाहिये । सप्तम पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि दुःखा-भावरूप वैशेषिक के मोक्ष में आनन्द न होने पर भी दुःखाभावोपलक्षितत्व रूप वेदान्ती के आनन्द का लक्षण चला जायेगा ।

इस तरह उपर्युक्त लक्षणों में होने पर भी निरुपाधि-इष्टता अर्थात निरुपाधिक निरतिशय प्रेम या इच्छा की विषयता ही आनन्द है, यह लक्षण निर्दोष है। इस पर कहा जा सकता है कि 'दुःखाभाव भी निरुपाधि इच्छा का विषय होता है, अतः लक्षण अतिव्याप्त है।' किन्तु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि दुःखाभाव भी एक प्रकार का सुख का शेष ही है, अतः वह लक्ष्य हो है, वहाँ लक्षण जाना अति-व्याप्ति नहीं । अभाव भी विरोधि भावान्तर ही है, अतः दुःखाभाव सुखरूप ही है । कहा जा सकता है कि 'मुक्ति में तो इच्छा नहीं रहती, परन्तु वहाँ भी आनन्द तो रहता है, अतः अव्याप्ति हुई ।' पर यह भी ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ भी इष्टत्वोपलक्षितत्व तो है ही । जब भी इच्छा की तब उसका विषय आनन्द था इच्छा के विषय यद्यपि शब्दादि विषय भी होते हैं, तथापि वे सुखसाधन होने से इच्छा के विषय होते हैं । वे ही जब दुःखकारक होते हैं, तब उनमें द्वेष होने लगता है । अतः वे सोपाधिक इच्छा के ही विषय होते हैं, निरुपाधिक इच्छा के नहीं । उपलक्ष्य में व्यावर्त्तक अवच्छेदक का रहना आवश्यक नहीं, जैसे कभी काक के रहने से काकोपलक्षित गृह का बोध होता है, उसी तरह कभी की इच्छा से भी इष्टत्वोपलक्षित आनन्द का बोध हो सकता है ।

यहाँ शंका होती है कि "निरुपाधि इष्टत्व आनन्द में स्वाभाविक है या औपाधिक ?" अन्तिम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्मस्वरूप में आनन्दरूपता नहीं होगी, क्योंकि वह उसकी इष्टता तो निरुपाधिक ही है । प्रथम पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें भी विकल्प यह है कि वह औपाधिक निरुपाधिक इष्टत्व ज्ञान से भिन्न है या अभिन्न ? यदि पहला पक्ष कहें, तो उसमें सखण्डत्वापत्ति होगी । यदि ज्ञान से अभिन्न ही है, तब तो उसमें आनन्द-पद्प्रयोग व्यर्थ ही है । परन्तु यह भी कहना ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञान और आनन्द दोनों का यद्यपि अभेद ही है, तथापि कल्पित भेद लेकर ज्ञानत्व आनन्दत्व जातिभेद को लेकर दोनों शब्दों की प्रवृत्ति होती है । एतावता 'विषयोल्लेखरहित ज्ञान आनन्द है' यह पक्ष भी निर्दोष ही है । 'ज्ञान विषयोल्लेखरहित भी होता ही है' यह पीछे सिद्ध किया जा चुका जगत् दृश्यरूप होने से सत् नहीं कहा जा सकता, किन्तु दृक्रूप होने से आनन्द सद्रूप भी है ।

सुख एवं वेदन का भेद न होने से परप्रेमास्पदरूप से भासमान आत्मा ही आनन्दरूप है । जैसे

वर्णाश्रमव्यवस्था तु तथा कार्या विशेषतः । स्वधर्म प्रच्युतान् राजा स्वधर्मे स्थापयेत्तथा ॥ —विष्णु धर्मोत्तर को राजनीति—(२/६३/५५)

वृत्तिरूप ज्ञान अनित्य होने पर भी वृत्तिभासक स्फुरणरूप ज्ञान नित्य है, वैसे ही अन्तःकरण वृत्तिरूप सुख भी अनित्य है, परन्तु ब्रह्मात्मस्वरूप सुख नित्य ही है। 'मैं कभी न रहूं ऐसा न हो, किन्तु सर्वदा बना रहूँ' (मा न भूयम् किन्तु सर्वदा भूयासम्) इस प्रकार आत्मा में स्वाभाविक ही प्रेम देखा जाता है। यदि आत्मा सुखरूप न हो, तो वह परप्रेमास्पद नहीं हो सकता। यदि प्राणी अनित्य सुख में भी प्रेम करता है, तो नित्य सुख में तो परप्रेम होना ही चाहिये। सुख में ही प्रेम होता है। सुखसाधनों में भी यद्यपि प्रेम होता है, तथापि सुख के प्रयोजन से ही सुखसाधनों में प्रेम होता है। सुखसाधनों में प्रेम सुखार्थ ही होता है। परन्तु सुख में प्रेम अन्यार्थ नहीं होता। इसी तरह आत्मा में भी प्रेम आत्मार्थ ही होता है, अन्यार्थ नहीं। इसीलिये आत्मा निरुपाधिक प्रेम का आस्पद है। जैसे चणकचूर्णादि (बेसन) में मधुरता शर्करासम्बन्ध से होती है, परन्तु शर्करा में स्वतः मधुरिमा होती है। मोदक आदि में सातिशय मिठास होती है। शर्करा में निरतिशय मिठास होती है। उसी तरह अन्यत्र सातिशय प्रेम होता है, आत्मा में निरतिशय प्रेम होता है। इसीलिए सब कुछ आत्मार्थ है, आत्मा अन्यार्थ नहीं होता। अतः आत्मा सबका ही शेषी है।

संसार में सुख-दुःख एवं सुख-दुःख-साधनों के वैचित्र्य से यह मानना पड़ता है कि जीवात्मा के पिछले शुभाशुभ कर्मों से ही यह विचित्रता उपपन्न होगी। पिछले शुभाशुभ कर्मों की उत्पत्ति भी जन्मान्तरीय देह से माननी पड़ेगी। यह जन्मान्तर भी उससे प्राचीन कर्मों से मानना पड़ेगा। इस तरह बीज एवं अंकुर की परम्परा के समान ही जन्मों एवं कर्मों की परम्परा को भी अनादि मानना पड़ता है। यह अनादि परम्परा सादि देह के आश्रित हो नहीं सकती। अतः अनादि आत्मा के ही आश्रित उसे मानना पड़ता है अर्थात अनादि आत्मा के ही पूर्व पूर्व देहों से उत्तरोत्तर कर्म होते हैं एवं पूर्व पूर्व कर्मों से उत्तरोत्तर देह होते हैं। उस आत्मा में ही कर्म एवं जन्म चलते हैं।

शय्या, प्रासादादि संघात जैसे परार्थ (दूसरों के लिए) होते हैं, वैसे ही देह, इन्द्रिय, मन आदि का संघात भी स्वविलक्षण किसी चेतन के लिये ही होता है। शय्यादि जैसे अपने से भिन्न देवदत्तादिशरीररूपी संघात के ही लिये दृष्ट हैं, वैसे ही यदि देहादि संघात भी किसी दूसरे संघात के लिये हो, तब तो अनवस्था प्रसंग होगा, क्योंकि उस संघात को भी किसी अन्य संघात के लिये मानना पड़ेगा। अतः शरीरादि संघात को किसी स्वविलक्षण, असंहत चेतन के लिये मानना पड़ेगा। इसीलिये त्रिगुणात्मक सुख-दुःख-मोहात्मक अव्यक्त, महदादि प्रपञ्च के विपरीत त्रिगुणातीत, असंहत असंग चेतन आत्मा सिद्ध होता है। त्रिगुणात्मक जड़ प्रपञ्चरथादि चेतन सारथी या अश्वादि से अधिष्ठित ही जैसे कार्यकरणक्षम होता है, वैसे ही अचेतन प्रकृति, बुद्धि आदि भी चेतन से अधिष्ठित होकर ही कार्यकरणक्षम होगी। अतः त्रिगुणात्मक अचेतन से भिन्न चेतन अधिष्ठाता आवश्यक है। भोक्ता भी अचेतन से भिन्न चेतन

"एक पत्नीव्रत धरो राजर्षिचरितः शुचिः। स्वधर्मं गृहमेधीयं शिक्षयन् स्वयमाचरत् ॥ —श्रीमद् भागवत (६/१०/५५)

ही होना चाहिये। सुख-दुःखादि भोग्य हैं। इनके द्वारा अनुकूलनीय, प्रतिकूलनीय, सुखी-दुःखी चेतन ही हो सकता है। बुद्धयादि स्वयं सुख-दुःख-मोहात्मक हैं, अपने से ही स्वयं अनुकूलनीय या प्रतिकूलनीय नहीं हो सकते। इसी तरह द्रष्टा के बिना दृश्य नहीं हो सकता। बुद्धयादि दृश्य हैं, उनका द्रष्टा इनसे भिन्न ही होना चाहिये। चेतन ही साक्षात् द्रष्टा होने से वही साक्षी हो सकता है। द्रष्टा चेतन स्वयं अदृश्य होता है। जैसे रूप का दृश्य है, चक्षु द्रष्टा है, वैसे ही चक्षु भी दृश्य है, मन द्रष्टा है।

संसार में चेतन के अधीन ही अचेतन की प्रवृत्ति होती है। भले चेतनसंयुक्त अचेतन की प्रवृत्ति होती है, तथापि प्रवृत्ति अचेतन की ही है, क्योंकि दोनों ही प्रत्यक्ष हैं। फिर भी अचेतन रथादि से जीवित देह में अचेतन विलक्षणता स्पष्ट ही है। काष्ठादि के आश्रित दाह, प्रकाशादि क्रिया केवल अग्नि में उपलब्ध नहीं होती। फिर भी दाह, प्रकाशादि क्रिया अग्नि का ही धर्म है, क्योंकि अग्निसंयोग होने से ही काष्ठादि में दाहादि उपलब्ध होता है, अग्निसंयोग के बिना उपलब्ध नहीं होता। भौतिकवादी भी तो चेतन देह को ही प्रवर्तक मानते हैं। वेदान्तानुसार निर्विकार कूटस्थ आत्मा भी अचेतन का प्रवर्त्तक वैसे ही होता है, जैसे अयस्कान्त मणि स्वयं प्रवृत्ति रहित होने पर भी लोह का प्रवर्त्तक होता है या जैसे प्रवृत्तिरहित रूपादि चक्षुरादि के प्रवर्त्तक होते हैं। यद्यपि जैसे दुग्ध स्वयं वत्सवृद्धयर्थ प्रवृत्त होता है, जैसे जल अचेतन भी प्रवृत्त होता है, वैसे ही अचेतन की प्रवृत्ति होनी ठीक है, तथापि वहाँ भी वत्स के चोषण तथा सर्वशासक अन्तर्यामी से ही दुग्धादि की प्रवृत्ति होती है। जैसे कर्त्ता के बिना कुठारादि करणों का व्यापार नहीं बन सकता, वैसे ही देह, इन्द्रियादि का देहादि भिन्न कर्त्ता के बिना व्यापार नहीं हो सकता। भौतिकवादी शरीर को चेतन कहता है।

कहा जाता है कि "जैसे नैयायिक के मुक्तात्मा में ज्ञान नहीं होता, वैसे ही मृत शरीर में भी ज्ञान का अनुपलम्भ उपपन्न हो जाता है। प्रमाण के अभाव से ज्ञान का अभाव उपपन्न हो ही जाता है।" परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि यदि शरीर चेतन हो, तो बाल्य, यौवनादि भेद से देह में भेद सुस्पष्ट उपलब्ध होता है। फिर एक देह न होने से एक आत्मा भी नहीं होगा। फिर 'जिस मैंने बाल्यावस्था में माता का अनुभव किया था, वही मैं वृद्धावस्था में पौत्रों का अनुभव करता हूँ' ऐसा अनुभव न होना चाहिये। बाल, स्थविर शरीर में भेद प्रत्यक्ष है। शरीरसम्बंधी अवयवों के उपचय-अपचय द्वारा शरीर का उत्पाद-विनाश सिद्ध है। जो कहा जाता है कि "पूर्वशरीरोत्पन्न संस्कार से द्वितीय शरीर में संस्कार उत्पन्न होता है' तो यह ठीक नहीं। अनन्त संस्कारों की कल्पना में गौरव होगा। यदि शरीर ही चेतन है, तब तो वह उत्पन्न होने वाला शरीर नवीन ही है। फिर बालकों की माता के स्तन्यपान में प्रवृत्ति न होनी चाहिये, क्योंकि इष्टसाधनताज्ञान प्रवृत्ति में हेतु है। सद्यःसमुद्भूत शिशु को इष्ट-

---

'तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको ऋषिर्यस्यमतं प्रमाणम्।
'धर्मस्यतत्त्वं निहितं गुहायां, महाजनो येन गतः स पन्थाः ।। — **महाभारत**

साधनता का अनुभावक कुछ भी नहीं है। देहभिन्न आत्मा मानने वाले तो कह सकते हैं कि जन्मान्तरानुभूत इष्टसाधनता का स्मरण हो सकता है। परन्तु जहाँ देहभिन्न आत्मा नहीं है, वहाँ तो जन्मान्तर की बात है ही नहीं। वहाँ स्तन्यपान में जन्मान्तरीय इष्टसाधनता का ज्ञान नहीं कहा जा सकता।

शंका हो सकती है कि "यदि जन्मान्तरीय अनुभूत स्तन्यपान की इष्टसाधनता का स्मरण होता है, तो अन्य जन्मान्तरीय अनुभूत पदार्थों का स्मरण क्यों नहीं होता?" तो इसका समाधान यह है कि उद्बोधक न होने से उनका स्मरण नहीं होता। स्तन्यपान के सम्बन्ध में तो जीवन का हेतुभूत अदृष्ट ही संस्कार का उद्बोधक है। यदि स्तन्यपान में इष्टसाधना का बोध होकर प्रवृत्ति न हो, तो जीवन ही असम्भव हो जायेगा।

चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों को ही कुछ लोग चेतन मानते हैं। परन्तु चक्षु आदि के उपघात होने पर भी स्मृति होती है, अतः यदि चक्षुरादि इन्द्रिय चेतन होते, तो उनके उपघात में स्मृति न होनी चाहिये। अन्य के अनुभूत का अन्य स्मरण नहीं कर सकता। मन भी चेतन नहीं है। फिर तो वह अणु होने से उसकी प्रत्यक्षता न होगी। कहा जाता है कि "क्षणिक विज्ञान ही आत्मा है।" परन्तु 'सोऽहं' (मैं वही हूँ) इस प्रकार अनेकदिनवर्ती आत्मा की प्रत्यभिज्ञा होने से नित्य विज्ञान ब्रह्म को ही आत्मा मानना ठीक है।

"धर्म तत्वं हि गहनमतः सत्सेवितं नरः।
श्रुति स्मृति पुराणानां कर्म कुर्याद्विचक्षणः॥ शुक्र० ३/३८

पाँच भ्रम

[महाराज श्री ने महायोगीन्द्र निदाघ एवं ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ महाराज ऋभु के संवाद रूप में—आत्मतत्त्व के स्फुरण हो जाने पर पाँच प्रकार के जिन जागतिक भ्रमों की निवृत्ति हो जाती है और साधक का चित्त ब्रह्माकार हो जाता है—उनका बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। किस प्रकार से कौन से भ्रम की निवृत्ति किस दृष्टान्त आदि से होती है इसका संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया गया है। आत्मसाक्षात्कार जैसे गूढ़ विषय का कितने सरल ढंग से वर्णन किया गया है; पाठकगण स्वयं पढ़कर ज्ञान लाभ करें।]

एक बार निदाघ नामक योगीन्द्र ने ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ ऋभु को दण्डवत् प्रणाम कर कहा कि 'भगवन्! आप मुझे ब्रह्मज्ञान का उपदेश करें तथा आपको किस उपासना से यह प्राप्त हुआ है, कृपा कर वह भी बतलायें।' महात्मा ऋभु ने कहा कि "मेरे पूजनीय पिताजी ने मुझे माता अन्नपूर्णा का मन्त्र बतलाकर कहा था कि 'जितेन्द्रिय होकर भगवती मां अन्नपूर्णा का ध्यान करते हुये आचार-विचार के साथ इस मन्त्र का जप करना।'' मैंने अपने वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हुये उसी दिन से माता अन्नपूर्णा की मन्त्रजपपूर्वक उपासना का नियम कर लिया। बहुत दिन बीतने पर मां अन्नपूर्णा ने कहा—'पुत्र! तुम कृतार्थ हो, वर मांगो।' मैंने कहा—मां! मुझे आत्मतत्त्व प्रस्फुरित हो जाये।' मां ने 'तथास्तु' कहा और अन्तर्हित हो गयी। तब मैंने देखा कि पाँच प्रकार का भ्रम जगत् में है। उस भ्रम के हटने से ही मेरा चित्त ब्रह्माकार हो गया। वे भ्रम कौन से हैं यह मैं तुम्हें बतलाता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो।

जीव और ईश्वर भिन्न है यह पहला भ्रम है। बिम्ब-प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त से वह निवृत्त होता है। जैसे बिम्बस्थानीय ग्रीवास्थमुख और प्रतिबिम्बस्थानीय दर्पणस्थ मुख में दर्पण रूप उपाधि के द्वारा ही भेद है, दर्पण उपाधि के हटने पर ग्रीवास्थ मुख (बिम्ब) और दर्पणस्थ मुख (प्रतिबिम्ब) एक ही रह जाते हैं—उनमें कुछ भी भेद नहीं रह जाता, इसी प्रकार बिम्बस्थानीय ईश्वर और प्रतिबिम्बस्थानीय जीव में केवल मायारूप उपाधि का ही भेद है। माया में प्रतिबिम्बित ईश्वर ही जीव कहा जाता है। मायारूप उपाधि के हटते ही केवल एक बिम्ब रह जाता है।

आत्मा कर्ता, भोक्ता, सुखी, दु:खी, नाना, अनेकानर्थपरिप्लुत है यह दूसरा भ्रम है। स्फटिक और जवाकुसुम के दृष्टान्त से वह भी दूर हो जाता है। जैसे स्फटिक के स्वच्छ होते हुये भी

'अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं संनिहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः॥ —विक्रमार्क चरि० १३/१

जवाकुसुम के सन्निधान से (जवाकुसुम की रक्तता स्फटिक में उपसङ्क्रान्त होने के कारण) 'रक्तः स्फटिकः' स्फटिक रक्त है यह प्रतीति होती है, पर वस्तुतः स्फटिक रक्त नहीं है, वैसे ही देह, इन्द्रियाँ आदि कार्यकरण के संघात के सन्निधान से आत्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि की प्रतीति होती है, वस्तुतः आत्मा अकर्ता, अभोक्ता, असुखी, अदुःखी, नित्य, एक रस, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त एवं सत्यस्वभाव है।

शरीरत्रयसंयुक्त जीव सम्बद्ध है यह तीसरा भ्रम है। घटाकाश और मठाकाश के दृष्टान्त से वह निवृत्त होता है। जैसे घट और मठ में रहता हुआ घटाकाश और मठाकाश घट तथा मठ से सम्बद्ध नहीं होता, वैसे ही तीनों शरीरों में रहता हुआ भी अन्तरात्मा उनसे सम्बद्ध नहीं होता, वह असंग ही है।

जैसे बीजादि उपादानकारण अंकुरादि उत्पन्न करने में स्वयं अवश्य विकारी होता है, वैसे ही शुद्ध एकरस परब्रह्म जगत् रूप कार्य को उत्पन्न करता हुआ यह जगत्कारण विकारी है यह चौथा भ्रम है। कनक, कुण्डलादि के दृष्टान्त से वह भी निवृत्त हो जाता है। जैसे कुण्डल, केयूर आदि कार्य रूप में परिणत होता हुआ भी स्वर्णस्वरूप से कभी भी विकृत नहीं होता, वैसे ही परब्रह्म परमात्मा कार्यरूप में परिणत होता हुआ भी स्वरूप से विकारी नहीं होता।

जैसे अपने कारण तन्तु से पृथक् होकर पटरूप कार्य भी सत्य है, वैसे ही अपने कारण ब्रह्म से पृथक् होकर जगत् सत्य है यह पांचवां भ्रम है। रज्जु सर्प के दृष्टान्त से वह भी निवृत्त हो जाता है। जैसे अविद्या द्वारा रज्जु में उद्भावित सर्प अपने कारण रज्जु से पृथक् होकर सत्य नहीं है, वैसे ही अविद्या द्वारा परब्रह्म परमात्मा में उद्भावित यह विश्व भी उससे पृथक् होकर सत्य नहीं है।

"सक्षेपात् कथ्यते धर्मो जनाः किं विस्तरेण वा।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥" —महाभारतकार

सर्वोत्तम भजन

[आजकल भजन कीर्तन, कथा, जागरण आदि का खूब प्रचार प्रसार दीखता है; परन्तु भजन का वास्तविक स्वरूप क्या है जो सर्वविध कल्याणकारी हो—इसका सुन्दर विवेचन स्वामी जी ने प्रस्तुत लेख में किया है। —ब्रह्मविद्या का यह कथन कि जैसे अपनी रूपवती कन्या गुण-हीन को नहीं दी जाती उसी प्रकार का विचार मेरे सम्बन्ध में भी रखे। जब भगवान, शास्त्र, आचार्य और अन्तरात्मा की पूर्ण कृपा होती है तभी विद्या फलवती होती है। स्वामी जी कहते हैं कि—दृश्यरहित, शुद्धदृक, भानस्वरूप अखण्ड ब्रह्म का स्फुरण ही मुख्य भजन है। प्रति क्षण ब्रह्म-बुद्धि से प्रणवादि का स्फुरण उपासना ही है। और सगुण साकार सच्चिदानन्द का ब्रह्म का स्फुरण भी उपासना है। परन्तु ऐसा नहीं कि पूजा, पाठ, जप आदि चल रहा हो और मन कहीं अन्यत्र घूम रहा हो—वरन निमेष भर के लिए भी प्रभु के स्वरूप का स्फुरण न रुके—यही सर्वोत्तम भजन है।]

ब्रह्मविद्या अनधिकारी पुरुषों के प्रदानभय से खिन्न होकर ब्राह्मण के पास आकर कहने लगी—'ब्रह्मन् ! मुझे वारांगना के समान सर्वसेवित न बनायें, अपितु कुलाङ्गना के समान हमारी रक्षा करें। ऐसा करने पर मैं लोक-परलोक में कल्याणकारिणी बनूँगी। यदि अत्यन्त जनोपकार की कामना हो, तो भी गुणहीन को तो कभी भी मुझे प्रदान न करना। जैसे अपनी रूपवती कन्या गुणहीन को नहीं दी जाती, वैसे ही मेरे सम्बन्ध में भी विचार रखें। गुणवानों की निन्दा, अनार्जव, इन्द्रियपराधीनता, स्त्रीसंग, अविनय तथा मनसा, वचना, कर्मणा गुरुभक्त न होना आदि मुझे अत्यन्त अप्रिय हैं। इन दोषों से रहित अधिकारी पुरुष को प्रदान करने से मैं कामधेनु के समान हितकारिणी होऊंगी, अन्यथा फल-वर्जित लता के समान वन्ध्या रहूंगी।'

श्रीभगवान्, शास्त्र, आचार्य और अन्तरात्मा की जब पूर्ण कृपा होती है, तभी विद्या फल-वती होती है, अन्यथा समझते-बूझते भी बारबार प्रमाद होता रहता है। भगवान् कहते हैं कि जो अनन्यचित्त होकर अर्थात् अन्य वस्तुओं से सर्वथा चित्त को हटाकर सर्वदा निरन्तर मेरा ही चिन्तन करता रहता है, उसे ही मैं सुलभ होता हूं—"अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः। तस्याहं पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥" शिष्ट लोग कहते हैं कि ब्रह्मनिष्ठा में प्रमाद ही मृत्यु है - "प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि।" क्षण भर भी निर्विकार, विशुद्ध, विज्ञानघन भगवान् का विस्मरण होना ही मृत्यु से

'धर्मार्थकामाः खलु जीवलोके समीक्षिता धर्मफलोदयेषु ।
ये यत्र सर्वे स्युरसंशयं मे भार्येव वश्याभिमता सुपुत्रा ॥' —अयो० २१/५७

भी भयंकर कष्ट है। हमारे आचार्यप्रवर बारबार कहते हैं कि क्षण भर, मूहूर्त भर भी भगवान् केशव का चिन्तन न करना ही महती हानि और महान् छिद्र है, वही अन्धता और जड़ता है—"सा हानिस्त-न्महच्छिद्रं सा चान्धजडमूढता। यन्मूहूर्तं क्षणं वापि केशवं नैव चिन्तयेत् ॥" परन्तु दुःख की बात है कि फिर भी भगवान् की अपेक्षा संसार का ही चिन्तन अधिक होता है। जिन लोगों के पास संसार का भी काम है, उनकी बात फिर कुछ क्षम्य भी हो सकती है, परन्तु जिनके सब कुछ भगवान् ही हैं, वे भगवद्व्यतिरिक्त वस्तु का अनुसन्धान क्यों करें? कहने के लिये १५ घण्टे तक भजन में लगाया जाता है, परन्तु यदि सच पूछा जाये, तो एक घण्टा भी ठीक भजन नहीं होता। दृश्यरहित, शुद्ध दृक्, भानस्वरूप अखण्ड ब्रह्म का स्फुरण ही मुख्य भजन है। परन्तु दृश्य तो पदेपदे स्फुरित होता रहता है। यद्यपि तत्त्वज्ञ की दृष्टि में दृश्य मिथ्या है, तथापि उसका भी स्फुरण भला क्यों हो? दृश्यसाक्षीरूप से भी प्रतिक्षण तत्त्वस्मरण रहे, तो भी ठीक है। प्रणव, महावाक्यार्थ के विचार द्वारा प्रतिक्षण तत्त्व-स्फुरण रहे, तो भी ठीक है। प्रणवादि का भी ब्रह्मबुद्धि से स्फुरण उपासना ही है। सगुण, साकार, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म का स्फुरण भी उपासना है। नाम, रूप, लीला, धाम का भी तात्पर्येण स्फुरण, श्रवण, स्मरण, कीर्तनादि भी भजन है। परन्तु जप, पाठ-पूजा चल रही हो और मन कहीं अन्यत्र ही भ्रमण कर रहा हो, यह तो बिडम्बना ही है। परन्तु 'भाव कुभाव अनख आलसहूँ, नाम जपत मंगल दिशि दशहूँ' के अनुसार यदि कथञ्चित् प्रभु सम्बन्ध बना रहा, तो परमदयालु, परमकृपालु, प्रभु, दीनानाथ, पतितपावन, अशरणशरण, अकारण करुण, करुणावरुणालय अपनी बिरुदावलि के अनुसार उद्धार करते ही हैं। परन्तु उचित यही है कि क्षण, मुहूर्त, निमेष भर भी प्रभु के निर्गुण या सगुण स्वरूप का स्फुरण न रुके, जप, पाठ आदि भी मन से हो, अन्यमनस्क होकर नहीं। उत्तम भक्त त्रिभुवन-सम्पत्ति के लिये भी, क्षण भर भी, प्रभु के पदारविन्द से चित्त को नहीं हटाते—"त्रिभुवनविभवहेतवे-ऽप्यकुण्ठस्मृतिरजिता पुरादिभिर्विमृग्यात् । न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लवनिमिषार्धमपि यः वैष्णवाग्र्यः ॥"

"धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥" – तैत्तिरीयशिक्षावल्ली

कल्याण का मार्ग

[इस संसार समुद्र में पड़े हुये हम जीवों को कहीं सुख नहीं, शान्ति नहीं। जो भी क्षणिक सुख-शान्ति संसार के भोगों में दृष्टिगत है वह भी परिणाम में दुखद ही है। स्वामी जी ने प्रस्तुत लेख में अत्यन्त संक्षेप में बड़े मार्मिक शब्दों में निरूपित किया है कि एक बार हठात् विषयों से विमुख होकर इन्द्रिय मन बुद्धि को भगवान के चरणारविन्दों में समर्पित करते हुये उन्हीं का आश्रय ग्रहण करलो—इसी में प्राणी का कल्याण है।]

संसार की वस्तुएं, संसार के सुख बड़े ही आकर्षक और चमकीले प्रतीत होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो क्षणिक प्रयत्न से अथवा बिना प्रयत्न के ही अपार सुखमहोदधि प्राप्त हो जायेगा। जिसके चमत्कार और वैभव का अन्त ही नहीं है, वह भगवान् तथा भगवत्सम्बन्धी सुख रूखा-सूखा-सा प्रतीत होता है, उस मार्ग में बड़ी कठिनाई भी प्रतीत होती है। पद-पद पर कण्टकाकीर्ण भयंकर गर्त प्रतीत होते हैं और ऐसा प्रतीत होता है मानो महामहा प्रयत्न करने पर भी सफलता की कोई आशा नहीं है। कुछ मिला भी तो शुष्क नगण्य सी ही वस्तु होती है। परन्तु जब प्राणी संसार की तरफ चल पड़ता है, तब उसके दुःख और कठिनाइयों का अन्त ही नहीं होता। जो चमकीली सुखमय वस्तु प्रतीत होती थी, वह दुःख ही दुःख प्रतीत होता है। जैसे पिपासा से व्याकुल हरिण मरुमरीचिका-मय जल के लिये जितना ही जितना दौड़ता है, वह उतना दूर ही दूर होता जाता है। वही स्थिति सांसारिक प्रलोभनों की है। परन्तु भगवान् की ओर चल पड़ते ही कठिनाइयां मिटती सी अनुभूत होती हैं, कण्टक फूस से हो जाते हैं, जितने जितने पग आगे रखता जाता है, भगवान् और भगवत्सुख समीप आते हुये से प्रतीत होते हैं, रूखी-सूखी सी प्रतीत होने वाली साधनाएं बड़ी ही सरस, मधुर प्रतीत होने लगती हैं। मायामय व्यामोह दुरन्त है। प्रभुकृपा के बिना कौन क्या कर सकता है? कहाँ सुख? कहाँ शान्ति? सुविचार, सुप्रवृत्ति या परमनिवृत्ति सब कुछ प्रभुकृपासाध्य है। इधर-उधर भटकते हुये शकुनि को जैसे एकमात्र आधारभूत भूमि ही विश्रान्तिस्थान है, वैसे ही भटकते हुये जन्तु का विश्रामस्थल भगवान् ही हैं। 'यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।' प्रथम जो विष के समान प्रतीत हो, परन्तु परिणाम में अमृततुल्य हो, वही सात्विक सुख कहलाता है। कारण भी स्पष्ट है, जिस प्रकार

"अधर्मे वर्तमानानामर्थं सिद्धिः प्रहण्यते।
तदेव मङ्गलं लोकः सर्वः समनुवर्तते॥" —पितामह भीष्म

निम्बकीट को सितारस-मधुरता उद्वेजक प्रतीत होती है, उसी प्रकार संस्कारप्राबल्य के कारण वैषयिक-सुखानुभवी प्राणी को निष्प्रपंच ब्राह्मसुख का अनुभव अनुकूल प्रतीत नहीं होता। विषयों एवं तदनुगामी इन्द्रियों का प्रचार अवरुद्ध हो जाने से मन में भी उद्वेग होता है। स्वभावतः यह स्थिति अनुकूल नहीं है। लक्ष्यनिष्ठा, प्रज्ञा के भी विचलित हो जाने की सम्भावना इस मार्ग में बनी रहती है। 'इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते। तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥'' विषयचारी इन्द्रियों का जब मन अनुगमन करता है तब वही मन ब्रह्मनिष्ठ प्रज्ञा का उसी प्रकार हरण कर लेता है, जैसे समुद्र में नाव को वायु हरण कर लेता है। इस मार्ग में कथमपि शान्ति नहीं है। एक बार हठात् विषयविमुख होकर इन्द्रिय, मन, बुद्धि को अवरुद्ध करके भगवत्परायण होने से तत्काल कुछ कठिनाई अवश्य प्रतीत होती है, परन्तु वस्तुतः भगवदाभिमुख होते ही क्षणे क्षणे शान्ति का अनुभव होने लगता है। जन्मजन्मान्तरों, युगयुगान्तरों, कल्पकल्पान्तरों तक भी विषयों के भोग में कभी शान्ति नहीं होती। पृथ्वी भर में जो भी ब्रीहि, यव, हिरण्य, पशु, स्त्रियाँ हैं, उन सबकी प्राप्ति एक व्यक्ति को हो जाये तो भी सुख-शान्ति सम्भव नहीं है। अतः हठात् इनसे आंख मीचना ही अच्छा है। आंख मीचकर, निराश्रय होकर सर्वाधार, अशरणशरण, अकारणकरुण, करुणावरुणालय प्रभु के चरणों का सहारा लेने से ही कल्याण है। □□

लाम्पट्य अत्यन्त निन्द्य है, परन्तु मनोनिलिन्द यदि भगवच्चरणाम्बुज मकरन्द मधु का लम्पट हो तो यह कितने सौभाग्य की बात हो? साधारण दृष्टि से राग, आसक्ति एवं व्यसन अत्यन्त निन्दनीय हैं। किन्तु सर्वात्मा सर्वाधिष्ठान अचिन्त्यानन्त आनन्द सुधा जलनिधि श्रीकृष्ण में प्रेम निरोधादि का होना उनके बिना क्षण भर भी न रह सकना कितना दुर्लभ है? आज तो संसार की यह स्थिति है कि विषय चिन्तन, स्त्री, प्रपंचादि के चिन्तन के बिना रहना कठिन हो रहा है। किन्तु इस चिन्तन को वहाँ से हटा कर यदि भगवच्चरण पंकज का चिन्तन न किया तो 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्' के चक्र से निकलना कठिन होगा।

"न पूर्णोऽस्मीति मन्येत धर्मतः कामतोऽर्थतः।
एतेष्वेव हि सर्वेषु लोकयात्रा प्रतिष्ठिता ॥'' —**महाभारत**

भगवत्स्मरण का माहात्म्य

[इस लघु लेख में स्वामी जी महाराज ने भगवान के मंगलमय पावन स्वरूप का वर्णन एवं भगवत्प्रपत्ति को ही इस अशान्त संसार में शान्ति का मूलमन्त्र बतलाया है। वे कहते हैं कि संसार के सभी अभ्युदय जीवन मूलक ही हैं, परन्तु इस जीवन के रहस्यों पर विचारने से लोग आजकल भागते हैं, जबकि जीवन का रहस्य ही अध्यात्मवाद है; जीवन का उद्गम स्थान समष्टि चेतन आत्मा या परमेश्वर है उसी के स्वरूप का स्मरण चिन्तन करने में ही जीवन की सार्थकता है।]

मंगलमय भगवान् के मंगलमय स्वरूप का प्रबोध एवं भगवत्प्रपत्ति ही इस अशान्त भौतिक वातावरण में शान्ति का एकमात्र मूल मन्त्र है। उसका विस्मरण होने से फिर अपार संसारसागर का पार-अवार कुछ भी नहीं विदित नहीं होता। सांसारिक अभ्युदय एवं सुख-शान्ति भी उसी से मिलती है। अधिक क्या परमनिःश्रेयस अपवर्ग भी तदाश्रित ही है।

संसार के सभी अभ्युदय जीवनमूलक ही हैं, परन्तु इस जीवन के रहस्यों पर विचारने से आजकल लोग भागते हैं। यह कथमपि इष्ट नहीं है। जीवन का रहस्य ही अध्यात्मवाद है। जैसे विस्फुलिंग का उद्गमस्थान अग्नि है, तरंग का उद्गमस्थान समुद्र है, लोष्ठ, पाषाण आदि का उद्गमस्थान भूमण्डल है, घटाकाश, मठाकाश आदि का उद्गमस्थान महाकाश है, वैसे ही जीवन का उद्गमस्थान समष्टिचेतन आत्मा या परमेश्वर है। जैसे विस्फुलिंग आदि में अग्नि के समान गुण हैं, वैसे ही ईश्वर के अंश इस जीव में परमात्मा के सदृश गुण हैं। जैसे विस्फुलिंग आदि का अग्नि आदि से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाने से उनके वे गुण शनैः शनैः तिरोहित हो जाते हैं, वैसे ही परमात्मसम्बन्ध विच्छिन्न हो जाने से जीवात्मा के भी वे गुण [ऐश्वर्य, बल, वीर्य, विज्ञान, शक्ति, तेज] तिरोहित हो जाते हैं। पर उस समष्टिचेतन आत्मा या परब्रह्म परमात्मा परमेश्वर का निरन्तर ध्यान करने से जीव के वे गुण पुनः प्रकट हो जाते हैं —'तस्याभिध्यानात् तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः' [श्वेता० १, ११] आदि श्रुतियों 'पराभिध्यानात्तु तिरोहितम्, ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ।' [३, २. ५] आदि ब्रह्मसूत्रों तथा ''भेजिरे मुनयोऽथाग्रे भगवन्तमधोक्षजम्' आदि भागवत वाक्यों में इसे विस्तारपूर्वक समझाया गया है। 'एवं नृणां क्रियायोगाः' [१. ५. ३४] आदि 'श्रीभागवत' के

"एतादृष्ट्वा तु जीवस्य गतीः स्वेनैव चेतसा।
धर्मतोऽधर्म तश्चैवधर्मे दध्यात् सदा मनः ॥ —'मनुस्मृति'

श्लोक की टीका से श्रीधरस्वामी ने इसका क्रम बतलाते हुये लिखा है—'अत्र च प्रथमं महत्सेवा ततश्च तत्कृपा ततस्तद्धर्मश्रद्धा ततो दृढ़ा भक्तिस्ततो भगवत्तत्त्वज्ञानं ततस्तत्कृपया सर्वज्ञत्वादिभगवद्गुणाविर्भाव इति क्रमो दर्शितः' अर्थात सर्वप्रथम महात्माओं की सेवा अर्थात सत्संग करना चाहिये तब सन्तों की कृपा से भागवत धर्म में श्रद्धा होती है। तब भगवच्चरित्र का श्रवण और उससे पुनः भगवत्प्रेम का उदय हो जाता है। इससे सूक्ष्म-स्थूल देह का विवेक तथा तद्भिन्न आत्म ज्ञान और पुनः इससे दृढ़ हरिभक्ति और तब प्रभु की कृपा और तब उससे सर्वज्ञत्वादि भगवद्गुणों का जीव में आविर्भाव होता है।

शास्त्रों तथा सन्तों ने तो उस परम प्रभु के यथाकथंचित् नामोच्चारण या स्मरण तक को जीव के लिये परमकल्याण का कारण कहा है। फिर जिनके नामोच्चारण का इतना अधिक महत्त्व हो, उनके साक्षात्कार तथा सोत्कंठ स्मरण का लोकोत्तर महत्त्व तो सर्वातिशायी होगा ही। वस्तुतः स्वार्थतः या परमार्थतः इससे बड़ा कोई लाभ नहीं। गोसाईं जी महाराज भी कहते हैं—

'स्वारथ सांच जीव कंह एहा, मन क्रम वचन रामपद नेहा'

'सखा परम परमारथ एहू, मन क्रम वचन रामपद नेहू'

भागवत के क्रान्तदर्शी वक्ता श्रीशुकदेव की भी कुछ ऐसी ही उक्ति है—

'आराधनं भगवत ईहमाना निराशिषः।

ये तु नेच्छन्त्यपि परं ते स्वार्थकुशलाः स्मृताः' [श्रीमद्भा० ६।१८।७७]।

अतः कल्याणेच्छुक व्यक्तियों को उपर्युक्तानुसार सत्संग, सद्शास्त्रों के अध्ययनपूर्वक प्रभु का नामोच्चरण, स्मरण, चिन्तन, एवं दर्शन लाभ करके मानव जीवन को सार्थक बना लेना चाहिये।

धर्म ही एक ऐसी वस्तु है जो मनुष्य को पशु से विलक्षण सिद्ध करती है। यदि ईश्वर एवं धर्म की भावना मनुष्य में न हुई, तब तो वह पशु तुल्य ही है। इतना ही क्यों वह तो पशु से भी निकृष्टकोटि में परिगणित होता है। परमात्मतत्त्व का अस्तित्व निश्चित रहने पर ही उसकी प्राप्ति की रुचि एवं उत्कण्ठा हो सकती है और तभी धर्म का अनुष्ठान और पाशविक उच्छृंखलता मिटाने का प्रयत्न हो सकता है।

''यः कामार्थो उपहत्य धर्ममेवोपास्ते।

सः पक्वं क्षेत्रं परित्यज्योषरं कृषति ॥ —'सोमदेवसूरि'

आर्षग्रन्थों की उपेक्षा का परिणाम

[आजकल शास्त्रीय पुरातन मर्यादाओं का उल्लंघन करना, उनका उपहास उड़ाना एक गौरव की वस्तु समझा जा रहा है। वर्णाश्रम का विरोध करना, शास्त्रों की बातों का मखौल उड़ाना प्रगति सूचक मान लिया गया है। स्वामी जी ने इस सम्पूर्ण परिस्थिति पर बड़ी सूक्ष्मता से विचार करते हुये भगवान श्रीमन्नारायण एवं देवर्षि नारद के संवाद के व्याज से शास्त्रीय परमकल्याणकारी सिद्धान्त का निरूपण किया है। सम्पूर्ण लेख में उनके सन्त हृदय की वेदना स्पष्ट झलकती है।)

बाल्यावस्था में सुनता था कि ब्राह्मण ही गुरु हो सकता है, दूसरे नहीं। धर्मशास्त्रों में भी देखने को मिला कि इज्या, अध्ययन, दान, याजन, अध्यापन, प्रतिग्रह ये छः कर्म ब्राह्मण के हैं। इज्या-ध्ययन दान, यह तीन कर्म क्षत्रिय, वैश्य के भी हैं। अध्यापन और उपदेश एक ही बात है। 'महाभारत' में भी पढ़ा कि 'न हीनतः परमभ्याददीत' अर्थात् अपने से निम्न वर्ग के व्यक्ति से उपदेश ग्रहण न करें। परन्तु इसके विपरीत भी बहुत सी स्थिति देखने में आयीं। आजकल की स्थिति में तो ब्राह्मणों के प्रति प्रायः घृणा हो चली है, इसीलिये कई लोग कहा करते हैं कि जो ब्रह्म जाने, वही ब्राह्मण है— "जानहिं ब्रह्म सो विप्रवर।" ब्राह्मण प्रायः धनहीन होने के कारण 'नोन, तेल' की चिन्ता में रहते हैं, कथा-वार्ता आदि के द्वारा भी कुछ अर्थोपार्जन का भाव रखते हैं, एतावता लोगों की घृणा बढ़ गयी। दरिद्रता के कारण ही कुछ आचार की भी त्रुटि आ गयी। यद्यपि अन्य वर्णों की अपेक्षा कहा जा सकता है कि ब्राह्मणों ने ही वेदादि शास्त्रों की रक्षा की है। आज भी, जब कि वेदादि शास्त्रों का महत्त्व कम समझा जाता है, ब्राह्मण ही उनके अध्ययनाध्यापन में लगे हुये हैं। क्षत्रिय, वैश्यादि यद्यपि उस कार्य में सहायता पहुँचाते हैं, तथापि कुछ अपवाद को छोड़कर उनकी स्वतः अध्ययन में प्रवृत्ति नहीं है। आर्थिक प्रलोभन और कमी के कारण ही ब्राह्मणों में भी अन्यान्य भाषाओं के अध्ययन करने या सर्वथा मूर्ख रहने की शोचनीय परिस्थिति आ गयी। उधर दूसरे लोग इतने धनहीन न होने के कारण अन्य विषयों में प्रधान होने के अतिरिक्त थोड़ी सी भी भक्ति, ज्ञान की बात मानने और कहने से श्रद्धेय बन जाते हैं। फिर उनकी गुरु आदि बनने में भी प्रवृत्ति हो जाती है। यद्यपि आपाततः इन बातों से कोई हानि मालूम नहीं पड़ती, तथापि शास्त्रों में विश्वास करने वाले लोग उसे उचित नहीं समझते। इस सम्बन्ध

"कथमुत्पद्यते धर्मः कथं धर्मो विवर्धते।
कथं च स्थाप्यत धर्मः कथं धर्मो विनश्यति ॥

में ही श्रीमद्भागवत के 'कौशिकसंहित'न्तर्गत माहात्म्य में एक बड़ा विचित्र आख्यान आता है। द्वितीया-ध्याय से ही यह आख्यान चलता है। नारायण भगवान् श्री नारद से कहते हैं कि "पिछले युग में एक वैश्य था। वह वृत्ति, धन, बन्धु आदि से रहित था। उसके एक स्त्री थी, पुत्रादि नहीं थे। वह धन के लिये जो उद्यम करता था, सब व्यर्थ जाता था। उसकी स्त्री पेषणादि काय करती थी। उससे प्राप्त द्रव्य से ही उसके घर का निर्वाह होता था। दम्पती में स्नेह भी नहीं था। आधिव्याधि से भी दोनों अत्यन्त पीड़ित थे। एक बार वह वैश्य दुःखी होकर घर छोड़कर किसी वन में चला गया, वहाँ उसने एक सरोवर देखा। वहाँ ऋषि-मुनियों का दर्शन किया। बहु शिष्यों से युक्त, ब्रह्मतेजःसम्पन्न, साक्षात ब्रह्मा के समान विराजमान महर्षि सांख्यायन का उसने दर्शन किया। मुनि को प्रणाम कर उनकी आज्ञा से बैठ गया। मुनि के पूछने पर उसने अपना वृत्तान्त बतलाया और कहा कि "भगवन्! मेरी यह दरिद्रता क्यों आयी और कैसे जायेगी? कृपा करके बतलायें।" मुनि ने बतलाना प्रारम्भ किया—"हे वैश्य! सुनो, तुम्हारे दुःख का जो कारण है। तुम पिछले जन्म में शूद्र थे। अधिकार न होने पर भी हठ से तुमने वेदाध्ययन किया और विप्र के समान वेष बनाकर काशी में रहने लगे। अन्त में बहुत शास्त्रों का अभ्यास करके तुमने संन्यासी का वेष बना लिया। फिर अनेक ब्राह्मणों को अपना शिष्य भी बनाया। अपने शिष्यों को उच्छिष्ट भोजन भी कराया, उन ब्राह्मण शिष्यों से उच्छिष्ट बर्तन साफ कराया, पांव दबवाया, अन्त में मरकर उसी पाप से शिष्यों के सहित तुमने धर्मराज के पुर में जाकर बहुत कष्ट पाया। ब्राह्मण सर्वाग्रभोजी है, उसको जो उच्छिष्ट खिलाता है, फिर चाहे मोह से, चाहे स्नेह से, चाहे हठ से खिलाये, वह 'लालाभक्ष' नामक नरक में जाता है। वहाँ उसको मल-मूत्र खाना पड़ता है। जो हीन वर्ण का प्राणी उत्तम वर्ण के व्यक्ति को शिष्य बनाता है, वह 'शूकरमुख' नामक नरक में जाकर यमदूतों के द्वारा महती यातना को प्राप्त होता है। अनेकों सहस्र वर्ष पर्यन्त अनेकों दुःखों को भोगकर अन्त में शौकरी और गार्दभी योनि को प्राप्त होता है—"उच्छिष्टं प्राशयेद्विप्रं मोहात्स्नेहाद्धठाच्च यः। सर्वाग्रभोजिनं मूढो लालाभक्षं प्रयाति सः॥ यो हीनश्चोत्तमं वर्णं शिष्यत्वे विनियोजयेत्। स शूकरमुखं याति ताडयमानो यमानुगैः॥" हे वैश्य! इस तरह तुम अनेक योनियों में नाना दुःखों का अनुभव करते करते अन्त में चण्डाल योनि को प्राप्त हुये थे। अन्त में किसी कर्मशेष से वैश्ययोनि में तुम्हारा जन्म हुआ है। यहाँ भी पुत्र, धनादि से रहित, आधि-व्याधि से पीड़ित होकर पाप-फल-भोग रहे हो।" वैश्य ने कहा—"भगवन्! कोई ऐसा प्रायश्चित बताइये, जिससे मैं अपने दुष्कर्मों से मुक्ति प्राप्त करूं।" ऋषि ने कहा—"तुम्हारे बड़े पाप हैं, उनका प्रायश्चित हमारी दृष्टि में नहीं आता। ब्राह्मण जन्म से ही श्रेष्ठ है, उसमें आत्मा का उद्धार करने एवं परोद्धारकता की भी शक्ति रहती है, अन्यत्र केवल आत्मोद्धारकता ही शक्ति होती है। दोनों शक्ति ब्राह्मण में ही होती हैं, अतः ब्राह्मण

"धर्ममूलः सदैवार्थः कामोऽर्थफलमुच्यते।
मूलमेतत्त्रिवर्गस्य निवृत्तिर्मोक्ष उच्यते॥" —'महाभारत'

ही गुरु हो सकता है, दूसरा नहीं—"आत्मोद्धारकताशक्तिः परोद्धारकता तथा । शक्ती द्वे ईशरचित्ते स्वोद्धारा सर्वसंस्थिता । परोद्धारा न सर्वत्र वैश्य हे ब्राह्मणं विना । विप्रेन्द्रे एव वर्त्तेते तस्माद्विप्रो गुरुर्भवेत् ॥" अतएव ब्राह्मण से किया हुआ जप, होमार्चनादि सबको मिल सकता है, अन्यकृत नहीं । इसीलिये ब्राह्मण ही ऋत्विज्ञ हो सकता है । जहाँ विद्वान् ब्राह्मण नहीं मिल सकता, वहाँ विप्रजातिमात्र का ग्रहण करना चाहिये । अतः सुखेच्छु को चाहिये कि ब्राह्मण की सदा पूजा करता रहे—"अतः सर्वं कृतं विप्रैर्जपहोमार्चनादिकम् । लभते सर्वलोकोऽयं नान्यजातिकृतं क्वचित् ॥ अलाभे विदुषो विप्रजातिमात्रपरिग्रहः । अतो विप्रः सर्वपूज्यः सर्वदा सुख हेतवे ॥" अविप्र कभी भी विप्र का पूज्य नहीं हो सकता, यह तुमने वेदों, शास्त्रों से जाना ही होगा । यह भी जानते होगे कि विप्र शूद्र-पूजक नहीं होता, प्रव्रज्या—संन्यास - भी केवल विप्र को ही विहित है, अन्य वर्णों को संन्यास विहित नहीं है—"किंचेदमपि जानासि न विप्रः शूद्रपूजकः । विप्रस्यैव प्रव्रज्यास्ति नान्यवर्णस्य कर्हिचित् ॥" आचार्यत्व भी ब्रह्मा ने ब्राह्मण में ही स्थापित किया है । तप आदि से भी अन्य वर्ण में आचार्यत्व नहीं आ सकता—"आचार्यत्वं ब्राह्मणस्य स्थापितं पद्मयोनिना । नान्यवर्णस्य जायेत तपआदिभिरत्र तत् ॥" चिन्हमात्र से जाति नहीं बदलती, सूत्रादि धारण करने से नापित ब्राह्मण नहीं बन सकता । कलि में ब्राह्मणता केवल वीर्य्य से ही अर्थात् जन्म से ही होती है, तपश्चर्य्या आदि से ब्राह्मणता नहीं आती । शुद्ध वस्तु किसी तरह अशुद्ध हो जाये, तो शोधन से उसकी शुद्धि हो सकती है । परन्तु जो स्वभाव से ही अशुद्ध है, वह शोधन से नहीं शुद्ध होती । जैसे अशुद्ध तैजस पात्र भस्मादि-संसर्ग से शुद्ध हो जाता है, परन्तु मल आदि तो गङ्गा में डुबाने पर भी शुद्ध नहीं होता

"न हि जातिपरावृत्तिश्चिह्नमात्रपरिग्रहात् । न नापितो ब्राह्मणतां याति सूत्रादिसंग्रहात् ॥ कलौ ब्राह्मणता वीर्यात्तपश्चर्य्यादिना न हि । शुद्धं त्वशुद्धतामेत्य शोधनाच्छुध्यते पुनः ॥ यच्च स्वभावतोऽशुद्धं तन्न शुद्धयति शोधनात् । यथा भस्मादिसंसर्गादशुद्धं तैजसं शुचि । मूत्रं न शुद्धिमाप्नोति गंगांभः प्लावनादपि ॥" दम्भ के समान कोई पाप नहीं, सत्य के समान कोई पुण्य नहीं । तुमने दम्भ से बड़ा पाप किया है । तुम्हारे वे शिष्य अज्ञान से तुम्हें गुरु बनाने के कारण कुम्भीपाकादि घोर नरकों में गये हैं—"ते शिष्या निखिला जग्मुरज्ञानाद्गुरुधारणात् । नरकान् क्रमशो वैश्य कुम्भीपाकमुखान् बहून् ॥" अस्तु अन्त में २१ दिन 'भागवत'-सेवन करने का उपदेश उस वैश्य को दिया गया ।

आश्चर्य के साथ कहना पड़ता है कि सर्वज्ञकल्प महर्षियों ने लाखों वर्ष पूर्व ही किस तरह कलि के वृत्तान्तों का वर्णन किया है ? धर्मशास्त्रों, इतिहासों, पुराणों में सनातन धर्म की सम्पूर्ण मर्य्यादाएं ठीक ठीक वर्णित हैं । मोहवश लोग उन बातों को अप्रामाणिक कहने लगते हैं । मर्य्यादोल्लंघन काल में प्राणी शास्त्रों की, शिष्टों की उपेक्षा करता है । फल-भोग-काल में घबराता है, रोता है, प्रतीकारोपाय

"धर्ममर्थं च कामं च मोक्षं च जरया पुनः ।
शक्तः साधयितुं तस्माद् युवा धर्मं समाचरेत् ॥" —'पद्मपुराण'

ढूँढ़ता, भटकता है। ब्राह्मणेतर का सन्यास लेना, शिष्य बनाना, उच्छिष्ट खिलाना, पादसंवाहन कराना आदि आज पूर्ण विस्तार को प्राप्त हो रहे हैं। ब्राह्मण लोग भी शास्त्र सम्बन्ध छोड़ते जा रहे हैं, धर्म की उपेक्षा करके किञ्चित् लोभ के कारण शूद्र, वैश्य आदि के शिष्य बनते जा रहे हैं। यह ऐसे कर्म हैं कि जिनसे ब्राह्मणों का तो पतन है ही, साथ ही, इतर वर्णों का भी सर्वनाश होता है। अतः क्या ही अच्छा हो कि पीछे पछताने की अपेक्षा पहले से ही सोच-समझकर चलें। फिर सहसा किसी आर्ष ग्रन्थ के किसी वचन को अप्रामाणिक कहने का साहस न होगा। ◻◻

☼ ☼ ☼

जिस प्रकार नील-पीत-हरित आदि रूपों का अवभासक सौर आलोक एक ही है किन्तु उसके प्रकाश्य भिन्न हैं उसी प्रकार दृश्य अनेक हैं और द्रष्टा एक ही है। किन्तु नील-पीतादि दृश्यों को प्रकाशित करते समय उनका अवभासक सौर आलोक तद्रूप हो जाता है; उन नील-पीतादि की सन्धि में जो उसका निर्विशेष रूप रहता है वही उसका 'शुद्ध-स्वरूप' है। जैसे एक स्थान में कई दर्पण रक्खे हुये हैं। उनमें सूर्य की किरणें पड़कर फिर समीपस्थ भित्ति पर प्रतिफलित हो रही हैं। वे दर्पणालोक और उनकी सन्धियाँ ये दोनों ही सौर आलोक से प्रकाशित हैं, किन्तु सन्धियाँ केवल सौरालोक से प्रकाशित हैं और दर्पणालोक दर्पण में पड़े हुये सौरालोक के आभास से भी प्रकाशित है। इसी प्रकार विषयों को स्फूर्ति तो चेतन तथा अन्तःकरणस्थ चिदाभास दोनों के योग से होती है, किन्तु उन विषयों की सन्धि अर्थात् निर्विषय-स्थिति केवल चेतन से ही भासित होती है।

"धर्मं समाचरेत् पूर्वं ततोऽर्थं धर्मसंयुतम्।
ततः कामं चरेत् पश्चाद् सिद्धार्थः स हि तत्परम्॥" **'महाभारत'**

धर्म और नीति

[राजनीति से आज जन-जन प्रभावित है, प्रेरित है और उसमें प्रवेश करने की इच्छा रखता है परन्तु धर्म से आज का मानव नाक भौं सिकोड़ता है, उसे अनावश्यक समझता है या फिर वर्तमान काल में उसका केवल व्यक्तिगत स्वरूप ही उसे अंशतः मान्य है। परन्तु स्वामी जी की मान्यता है कि लौकिक-पारलौकिक उन्नति और मोक्ष प्राप्ति धर्म से होती है, और इसी प्रकार नीति शब्द का भी यही अर्थ है कि अभ्युदय की प्राप्ति जिससे ही वह नीति है। इस प्रकार धर्म को नीति का पति बताते हुये उन्होंने प्रस्तुत किया है कि सुख शान्ति स्थापना के लिये यह आवश्यक है कि राजनीति को धर्म का सुदृढ़ आधार प्रदान किया जाये। शायद विश्व में राजनीति में धर्म को सहकार रखने के पक्ष को दृढ़तापूर्वक रखने वाले स्वामी जी अकेले ही दीख पड़ते हैं परन्तु उनके अकाट्य शास्त्रीय सिद्धान्तों की सत्यता में कोई शंका नहीं है।]

व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एवं विश्व के धारण-पोषण करने वाले तथा संघटन, सामंजस्य, शान्ति, सुव्यवस्था की स्थापना में अत्यन्त उपयोगी और परिणाम में भी जो अहितकर न हों, ऐसे नियमों को ही 'धर्म' कहा जाता है। अतएव अभ्युदय (ऐहलौकिक-पारलौकिक उन्नति) एवं निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति जिससे हो वही धर्म है—"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः", "धारणाद्धर्मः।" यह सभी धर्म के तटस्थ लक्षण हैं। परन्तु किन साधनों से अभ्युदयादि की सिद्धि होती है, अतएव कौन कौन कर्म धर्म हैं, इसका पूर्णरूप से ज्ञान अपौरुषेय वेद एवं तन्मूलक शास्त्रों से ही हो सकता है। इस-लिये राष्ट्र के धारण-पोषणानुकूल शास्त्रसम्मत देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार की हलचलें या व्यापार ही धर्म है। इसी में यज्ञ, तप, दानादि तथा सभी वर्णधर्म, आश्रमधर्म का अन्तर्भाव हो जाता है। 'नीति' शब्द का भी अर्थ प्रायेण वही होता है। अभ्युदयप्राप्ति जिससे हो, वही नीति है। 'धृञ् धारणे' धातु से 'धर्म' और 'णीञ् प्रापणे' धातु से 'नीति' शब्द सिद्ध होता है—"ध्रियतेऽभ्युदयोऽनेनेति धर्मः", "नीयते प्राप्यते अभ्युदयोऽनयेति नीतिः।" अर्थात् अभ्युदय का धारण जिससे हो, वही 'धर्म' और अभ्युदय की प्राप्ति जिससे हो, वही 'नीति' है। फलतः दोनों का एक ही अर्थ होता है। इसलिये कुछ लोग तो नीति को ही धर्म कहते हैं। पर कुछ लोग लौकिक अभ्युदय (उन्नति) के साधन को 'नीति' और पार-लौकिक उन्नति के साधन को 'धर्म' कहते हैं। यह विभाग भी प्रधानता और अप्रधानता की ही दृष्टि

"नाचरेद्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः।
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः ॥

और गौणरूप से लौकिक उन्नति भी होती है । इसी
से है । धर्म से पारलौकिक उन्नति प्रधानरूप से और अप्रधान रूप से पारलौकिक उन्नति भी होती है । धर्म
तरह नीति से लौकिक उन्नति प्रधानरूप से और अप्रधान रूप से पारलौकिक उन्नति भी होती है । धर्म और धर्म प्रतिष्ठित होते हैं,
और नीति का परस्पर बहुत घनिष्ट सम्बन्ध रहता है । नीति से ही शास्त्र और धर्म प्रतिष्ठित होते हैं,
नीति के बिना शास्त्र और धर्म नष्ट हो जाते हैं—"नश्येत्त्रयी दण्डनीतौ हतायाम् ।" नीति से ही
सामाजिक सुव्यवस्था, शान्ति होने पर धर्म के अनुष्ठान में सुविधा होती है और धर्मभावना फैलने से
ही नीति भी कार्यान्वित एवं सफल होती है । अहिंसा और सत्य की भावना से राजा-प्रजा, मजदूर-
पूंजीपति सभी में सद्भावना फैलती है । धर्मभावना से ही परोक्ष में भी राजा-प्रजा अन्याय, अत्याचार
से बचने का प्रयत्न करेंगे ।

वास्तव में धर्म नीति का पति है । उससे विरहित होकर नीति विधवा है । बिना धर्मरूप
पति के विधवा नीति पुत्रोत्पादन नहीं कर सकती । उसमें फलोत्पादन की क्षमता नहीं रहती । वैधव्य
में वह केवल बिलबिलाती है, असफल होकर विलाप करती है । धर्मविरुद्ध नीति कहीं तत्काल अभ्युदय
का साधन होती हुई भी परिणाम में अहितकारिणी सिद्ध होती है । दुष्परिणाम-शून्य वास्तविक अभ्युदय
के साधन को ही नीति कहा जा सकता है । जो परिणाम में अनिष्टकर हो, वह सच्चा अभ्युदय नहीं,
केवल अभ्युदयाभास है, अतः उसका साधन भी नीति नहीं, केवल नीत्याभास है । अर्थानुबन्ध, धर्मानु-
बन्ध अभ्युदय ही सच्चा अभ्युदय है । अनर्थानुबन्ध, अधर्मानुबन्ध या अननुबन्ध अभ्युदय केवल देखने
भर को अभ्युदय है । विष से मिला हुआ मधुर पक्वान्न सेवन में तात्कालिक आनन्द देने वाला होने पर
भी मृत्यु का कारण होता है, यह स्पष्ट ही है । धर्मविहीन नीति आरम्भ में भले ही चमत्कारिक सफलता
दिखलाये, पर अन्त में वह पतन ही की ओर ले जायेगी । समस्त 'महाभारत' इसका ज्वलन्त उदाहरण
है । धर्मविरुद्ध कूटनीति का अनुसरण करके दुर्योधन को १४ वर्ष के लिये अतुल साम्राज्य का उपभोग
मिल गया, पर अन्त में पूर्ण पतन ही हुआ । धर्म-नीति के अनुगामी बनकर युधिष्ठिर को १४ वर्ष वनों
में भटकना पड़ा, पर अन्त में साम्राज्य-सिंहासन प्राप्त हुआ । इतिहास, पुराणों में सर्वत्र यही दिखलाया
गया है कि "यतो धर्मस्ततो जयः ।"

अपने यहाँ नीति साहित्य की कमी नहीं है । शुक्र, कौटिल्य, कामन्दक आदि की नीति के
सामने पाश्चात्य नीति तुच्छ जंचती है । कहा तो यह जाता है कि नाजियों ने बहुत कुछ अर्थशास्त्र से
सीखा है । कूटनीति के ऐसे दाँवपेंच बतलाये गये हैं, जिन्हें देखकर हैरान होना पड़ता है । यदि तुलना
की जाये तो पाश्चात्य कूटनीति के प्रसिद्ध आचार्य मैकेयावेली को कौटिल्य के आगे शिर झुकाना पड़ेगा।
परन्तु भेद इतना ही है कि हमारे यहाँ के नीतिज्ञों ने भी कभी अर्थ को नहीं भुलाया । स्वयं कौटिल्य ने
लिखा है—"संस्थाया धर्मशास्त्रेण शास्त्रं वा व्यावहारिकम् । यस्मिन्नर्थे विरुध्येत धर्मेणार्थं विनिश्चयेत् ॥"

"धर्मादपेतं यत्कर्म यद्यपि स्यान्महाफलम् ।
न तत्सेवेत मेधावी न हि तद्धितमुच्यते ॥"

"स्वधर्मः स्वर्गायानन्त्याय च । तस्यातिक्रमे लोकः सङ्करादुच्छिद्येत ।" परन्तु इसका ध्यान न रखने का भी फल यह हो रहा है कि आज पचासों वर्ष का हमारा प्रयत्न विफल जा रहा है । हमारी कोई भी नीति कारगर नहीं हो रही है । जो कुछ भी हम करते हैं, उसका फल उलटा ही होता है । आज के बड़े-बड़े नेता जिस नीति का आश्रय लेकर देश को सुखी और समृद्ध बनाना चाहते हैं, वह भारत की नीति नहीं है । वास्तव में तो हम पाश्चात्य उच्छिष्ट नीति के अनुसरण में ही सारा जोर लगा रहे हैं । अपने प्राचीन नीति-साहित्य की ओर कभी ध्यान ही नहीं जाता है । यदि उसे अपनायें तो फिर धर्म-विमुखता भी न रहे और धर्म का आश्रय लेने पर सफलता बनी बनायी है । धर्मविमुख होकर आज सारा विश्व पतन की ओर बढ़ रहा है, तरह तरह के 'वादों' के बादल छाये हुये हैं, उनमें से जीवनप्रदान करने वाले जल की एक बूंद नहीं टपकती, होती है केवल घोर गर्जना और पत्थरों तथा बिजली की मार । हम तो आज सब तरह से असमर्थ हैं । बाहुबल नहीं, शक्तिबल नहीं, बुद्धिबल नहीं, कुछ भी नहीं है । ऐसी दशा में हम कर ही क्या सकते हैं ? हाँ, एक मार्ग हमारे सामने अवश्य है और वह है सर्व-शक्तिमान् का सहारा । जितने भी आज हमारे प्रयत्न हो रहे हैं, उनके साथ यदि हम भगवान् की प्रार्थना जोड़ दें तो हमारा मार्ग स्वतः साफ होता जायेगा । उससे हमारा ही नहीं, सारे विश्व का कल्याण होगा । भारत के महापुरुषों का यह आदर्श सिद्धान्त रहा है कि "सर्वे भवन्तु सुखिनः ।" इसी दृष्टि से सदा उनकी प्रार्थना होती रही है । आज भी इसी की आवश्यकता है । यदि नियमपूर्वक इसके लिये प्रयत्न किया जाये तो सफलता अवश्यम्भावी है । □□

वस्तुतः देखा जाये तो हम लोग भी नास्तिक प्रायः ही हैं । यदि भगवान् की सत्ता पर हमारा पूरा विश्वास होता तो हमें लुक-छिपकर पाप करने का साहस कैसे होता ? भगवान् तो अन्तर्यामी हैं वे तो हमारी मानसिक क्रिया को भी जानते हैं । अतः ऐसी परिस्थिति में हमारी मन की भी दुष्प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ? इस प्रकार यदि सच पूछा जाये तो हमसे तो नास्तिक ही अच्छे हैं । हम तो ऊपर से आस्तिकता का दावा करते हुये वस्तुतः नास्तिक हैं, किन्तु वे प्रत्यक्ष अपना दोष स्वीकार कर लेते हैं । अतःस्पष्ट है कि भगवान का निराकरण करना—यह मायामोहित जीवों का स्वभाव ही है । तो भी प्रभु का स्वभाव बड़ा ही करुणामय है उसी को समझकर वह फिर भी उन्हीं के सामने रोता है । कृपा की भीख मांगता है, और वे प्रभु भी बड़े उदार हैं, दयालु हैं, थोड़े से उपकार को वे बारम्बार स्मरण करते हैं ।

'विद्या रूपं धनं शौर्यं कुलीनत्वमरोगता ।
राज्यं स्वर्गश्च मोक्षश्च सर्वं धर्मादवाप्यते ॥"

देवोपासना और अनन्यता

[भगवान आद्य शंकराचार्य के समान परम वेदान्त-निष्ठ, अद्वैतवादी, परम वीतराग ब्रह्मनिष्ठ स्वामी करपात्री जी वस्तुतः ब्रह्मरूप थे। 'एकंब्रह्मद्वितीयं नास्ति' के प्रबल प्रतिपादक होते हुये भी जिस प्रकार आदि शंकर ने अनेक देवी-देवताओं की भक्ति परक रचनाएं कीं उसी प्रकार स्वामी जी भक्ति की उच्चावस्था को प्राप्त हो गये थे। उन्होंने वीतराग सन्यासी होते हुये भी देवी-देवताओं की उपासना पद्धति को स्वयं अपनाकर आदर्श उपस्थित किया। प्रस्तुत लेख में उन्होंने बतलाया है कि जैसे भगवान् ने ईश्वर प्राप्ति के लिये भिन्न-भिन्न लोगों की सेवा करने का ब्रजांगनाओं को उपदेश दिया है वैसे ही लोगों को एक परब्रह्म की प्राप्ति के लिये अनेक ईश्वरों, देवी-देवताओं का अनुसन्धान करना होगा। जिस अद्‌भुत शास्त्रीय शैली से स्वामी जी ने देवोपासना की अनन्यता का विवेचन किया है वह देखते ही बनता है।]

परमानन्द आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अपने अद्‌भुत सौन्दर्य-समास्वादन की निष्ठा ब्रजांगनाओं के ब्याज से वर्णन करते हैं। ब्रजांगनाएं तो केवल निमित्तमात्र हैं। उनके बहाने आप समस्त संसार को स्वधर्मनिष्ठा का दिव्य उपदेश देते हैं। स्वधर्म-निष्ठा ही भगवत्प्राप्ति की आधार होती है। अतः वह निष्ठा निश्छल होनी चाहिये भीतर-बाहर एक भाव से हो, क्योंकि ऐसी निष्ठा के बिना भगवत्-प्राप्ति दुर्लभ है। दम्भपूर्वक किया हुआ कार्य अकिंचित्कर हुआ करता है। श्रीकृष्ण भगवान् ब्रजांगनाओं से कहते हैं – "तद्यात मा चिरं गोष्ठं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः।" यह भाव इस बात से सूचन किया जाता है मानो ब्रजांगनाएं कहती हैं—"भगवन् ! यहाँ हम सबको देखता कौन है ? उपवन की सुन्दर शोभा का आनन्द लेकर आपके साथ विहार करके तब जायेंगी।" इस पर भगवान् कहते हैं कि "उत्तम क्षेत्र होने के कारण भेद शीघ्र ही प्रकट हो जायेगा। तीर्थ में किया हुआ दुराचार सुगुप्त नहीं रह सकता। अतः तुम सब चली जाओ। यहाँ तनिक भी मत ठहरो।" कहने का तात्पर्य यह कि मनुष्य को भीतर से दुराचार से बचना चाहिये। तीर्थ-स्थान में तो इसका विशेष रूप से ध्यान रहे। मन से पाप का विचार तक न करना चाहिये। यह संसार जड़ है। इसके जानने न जानने से क्या होता है। अन्तर्यामी परब्रह्म परमात्मा, जो फल देने वाले हैं, वे तो सब कुछ जानते हैं न। जब उनसे कोई बात

'धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥"

छिपी नहीं रह सकती, तो फिर जड़ संसार से छिपाने से क्या होता है ? इसलिये भगवान् ने उनसे कहा "आप लोग शीघ्र गोष्ठ चली जायें। मुझ परपुरुष के सन्निधान में रहकर अपने को कलंकित न करें। यहाँ से जाकर स्वधर्म में लगो, अपने पतियों और सास-ससुर की सेवा-शुश्रूषा करो। इसी से भगवत्प्राप्ति हो सकती है।" इसी व्याज से भगवान् का संसार के प्राणियों को उपदेश है। भगवान् ने ईश्वरप्राप्ति के लिये भिन्न-भिन्न लोगों की सेवा करने का जैसे व्रजांगनाओं को उपदेश किया है, वैसे ही लोगों को एक परब्रह्म की प्राप्ति के लिये भिन्न-भिन्न ईश्वरों का अनुसन्धान करना चाहिये। यदि एक ईश्वर प्राप्त करना है, तो पहले अनन्त ईश्वरों को खोजना पड़ेगा। ईश्वर के प्रतिनिधिस्वरूप आये हुओं को ढूंढ़े बिना वह कदापि नहीं मिल सकता। एक बच्चा पैदा करना होता है, तो लोग अनेक देवी-देवता, भूत-प्रेत की मन्नतें करते हैं, फिर परब्रह्म परमात्मा बच्चे से कहीं उच्चकोटि के हैं। उनके लिये तो और भी देवताओं को पूजना होगा, यज्ञ, अनुष्ठानादि करना होगा। ऐसा करने से ही अनन्यता होगी। चाहे जिस किसी का पूजन किया जाये, लक्ष्य एक उसी परब्रह्म की प्राप्ति का रहना चाहिये, यही अनन्यता है और इसी से इष्टसिद्धि होती है। ईश्वरप्राप्ति के लिये देवी, गणेश, सूर्य भिन्न भिन्न सभी देवों की पूजा करनी होगी, तब भगवान् प्राप्त हो सकेंगे। सम्राट् से जब कोई मिलने जाता है, तब सीधे उनसे कोई नहीं मिलता, कितने ही अहलकारों, राजकर्मचारियों से मिलकर उन सबको अनुकूल करना होता है, तब कहीं सम्राट् का दर्शन हो पाता है। यदि एक भी अहलकार विपक्षी हुआ, तो वह ऐसे अड़ङ्गे लगायेगा कि सम्राट् के दर्शन ही न हो पायेंगे। तब फिर सम्राटों के सम्राट् भगवान् की प्राप्ति, बिना उसके अहलकार—देव-देवियों – की पूजा किये, कैसे होगी ? गोस्वामी तुलसीदास जी इसीलिये सीधे राम के पास नहीं पहुँचते। वे कहते हैं—'देहु उमापति रामचरणरति'। शिव जी से भगवान् राम-चन्द्र की कृपा दिलाने के लिये प्रार्थना करते हैं। यदि बिना भगवान् के राज-कर्मचारियों को मनाये ही भगवत्प्राप्ति सम्भव होती, तो वे फिर शिव की व्यर्थ मन्नतें क्यों करने जाते ? 'रामायण' में जहाँ देखिये तुलसीदास जी ने सीधे राम के पास पहुँचने की दुश्चेष्टा नहीं की है। उन्होंने पंच देवों की उपासना सबसे पहले की। वे कहते हैं—'जयजयजय गिरिराजकिशोरी। जय महेशमुखचन्द्रचकोरी॥ जय गजबदन-षड़ाननमाता। जगतजननि दामिनिद्युतिगाता॥ नहिं तव आदि मध्य अवसाना। अमित प्रभाव वेद नहिं जाना॥ भव-भव-विभव पराभवकारिणि। विश्वविमोहनि स्ववशविहारिणि।' यहाँ गोस्वामी जी उसी भगवती से प्रार्थना करते हैं, जो चितिरूप से सबमें व्याप्त है—"या देवी सर्वभूतेषु चितिरूपेण संस्थिता।" उसकी ही दीप्ति से दीप्त हुये ये सारे प्रमाण स्वस्वविषयों को प्रकाशित करते हैं। उसका प्रभाव और स्वरूप दोनों अमित हैं, इसलिये वेद भी उसको नहीं जानते। उसका न आदि है, न मध्य और न अन्त ही। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय जिसके लक्षण हों, वही

"श्रुतिस्मृती उभे नेत्रे पुराणं हृदयं स्मृतम्।
एतत्त्रयोक्त एव स्याद् धर्मो नान्यत्र कुत्रचित्॥" **—श्री देवी भागवत्**

परब्रह्म है। भगवती में ये सब लक्षण हैं। भगवती 'भव' अर्थात् उत्पन्न करती है, 'विभव' ऐश्वर्य करती है और पराभव अर्थात् 'संहार' करती है। उत्पत्ति, अभिवृद्धि एवं नाश तीनों को करने वाली आप हैं। जिससे यह नाम-रूप-क्रियात्मक प्रपञ्च निकला है और जो तीनों—उत्पत्ति, पालन और लय को करने वाले हैं, जो रसात्मक पूर्ण सच्चिदानन्दघन हैं, भावुकों के लिये परम ध्येय, ज्ञेय, सर्वस्व हैं, वे यही भगवती हैं। "स्वर्गापवर्गदा नृणाम्" मनुष्यों को स्वर्ग एवं नरक देने वाली आप ही हैं। आप ज्ञानियों के लिये आनन्दरूप और अज्ञों के लिये भयरूप हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी आदि जिन तत्वों का जहाँ वर्णन करने लगते हैं, वहाँ मानो उन्हीं को सब कुछ समझ लेते हैं। शंकर का जहाँ वर्णन करते हैं, वहाँ शंकर को ही अपना सर्वस्व मान लेते हैं। इन्होंने बिलकुल पुराणों की रीति ग्रहण की है। पुराणों में शैव शिव को, वैष्णव विष्णु को जहाँ भजते हैं, वहाँ उनको अपना सर्वस्व समझकर। जो विषय परम तत्व का है, उसको प्रतिपादन करने का पुराणों ने अपना स्थिर लक्ष्य रखा है। यही पद्धति गोस्वामी जी की भी रही। उन्होंने अपना लक्ष्य भगवत्प्राप्ति तो रखा, पर वे उनके कर्मचारियों को भी तन्मय, तद्गतचित होकर याद किया।

यह सब तो है, पर फिर भी साधकों को अपनी प्रवृत्ति के अनुसार एक किसी खास को उपास्य देव बनाना पड़ता है। उसी को सब कुछ समझकर अर्चन-वन्दन करना होता है। एक को मान कर अपनी अनुरागवृद्धि के लिये इतरों को भी याद करना होता है। पूजा करते समय उपास्य देव को बीच में स्थान देकर इधर-उधर अन्यान्य देवों को रखा जाता है और तब सबकी पूजा साथ की जाती है। इतर देवों की उपेक्षा करने से न तो इष्टसाधन होता है और न तो यह अनन्यता का लक्षण ही है। अपने इष्टदेव का पूजन अपने धर्मविशेष द्वारा किया जाता है। भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं— 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानवः।' वर्णधर्मानुसार अपने कर्म के द्वारा ही प्राणी अपने अभिलषित तत्व की प्राप्ति कर सकता है। कुछ कर्म ऐसे भी होते हैं, जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णों के लिये बराबर होते हैं, पर कुछ असाधारण कर्म होते हैं, जो चारों वर्णों के लिये अलग अलग होते हैं। सबमें विशेपता है। यह उन्हीं असाधारण कर्मों के लिये आया है। अपने अपने उन असाधारण कर्मों के द्वारा उस परब्रह्म की प्राप्ति होती है। अग्निहोत्रादि जितने भी नित्य, नैमित्तिक कर्म होते हैं, सबमें इन्द्र, रुद्र, सूर्य आदि का भी भजन करना पड़ता है। सबका भजन किये बिना यज्ञ की पूर्ति नहीं होती। सबका भजन जब किया जायेगा, तभी अनन्यता बनेगी। भगवान् की आज्ञा है कि मेरे मातहतों की पूजा करने से भक्त स्वयं मुझे ही प्राप्त होते हैं। अतः भगवान् की आज्ञा के प्रतिकूल होने पर अनन्यता न बनेगी। भगवान् तभी मिलेंगे, जब वह प्रसन्न हों और वह तभी प्रसन्न होंगे, जब उनकी आज्ञा का अक्षरशः पालन किया जायेगा। आज्ञा पालन किये बिना उनकी

"श्रुतिद्वैधं भवेद् यत्र, तत्र धर्माबुभौ स्मृतौ।
स्मृतिद्वैधं तु यत्र स्याद् विषयः कल्प्यतां पृथक्॥"—'श्री देवी भागवत'

प्रसन्नता की आशा करना व्यर्थ है। भृत्य स्वामी की आज्ञा न माने और सेवा का प्रयत्न करे, यह कभी सम्भव नहीं। ऐसे ही वे ईश्वरभक्त मूर्ख हैं जो ईश्वर की आज्ञा को नहीं मानते, पर सेवा का प्रयत्न करते हैं। अतः सबसे पहले आज्ञा माननी चाहिये। भगवान् कहते हैं–"मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्ग-वर्जितः। निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।" अर्थात जो पुरुष केवल मेरे ही लिये, सब कुछ मेरा समझता हुआ, यज्ञ, दान और तप आदि सम्पूर्ण कर्तव्यों को करता है, परम आश्रय मुझे परमगति मानकर मेरी प्राप्ति के लिये तत्पर रहता है, मेरा भक्त है अर्थात् मेरे नाम, गुण, प्रभाव और रहस्य के के श्रवण, कीर्तन, मनन, ध्यान या पठन-पाठन का प्रेमसहित निष्काम भाव से निरन्तर अभ्यास करता है, जो आसक्तिरहित है अर्थात् स्त्री, पुत्र और धनादि सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थों में स्नेहरहित है और सम्पूर्ण प्राणियों में जिसका बैरभाव नहीं है (भगवद्बुद्धि हो जाने से पुरुष का अति अपराध करने वाले में भी बैरभाव नहीं होता, फिर औरों में तो कहना ही क्या?) ऐसा वह अनन्य भक्तिवाला पुरुष मेरे को ही प्राप्त होता है। भगवान् का आदेश है कि स्वकर्म से ही साक्षात्कार हो सकता है।

भगवत्प्राप्ति करना है, तो भगवदाज्ञा भी माननी पड़ेगी। भगवदाज्ञा मानकर सभी देवी-देवताओं का पूजन करना होगा। अनन्यता का यही अर्थ है कि जिस किसी का पूजन किया जाये—'सब कर मांगहि एक फल रामचरणरति देहु' अनुरक्ति बस एक में हो। पूजना सभी को चाहिये, सबको प्रसन्न रखने पर भगवान् भी प्रसन्न होंगे। दूसरे देवताओं का पूजन, नमस्कार बन्द करना उचित नहीं है। धनादि के लिये जब धनियों के चरणों पर मस्तक झुकाना पड़ता है, लौकिक कार्यों के लिये म्लेच्छों तक की भी स्तुति करनी पड़ती है, तब भगवान् के लिये देवताओं की शरण लेना क्या कोई खराब बात है? क्या देवता उन धनिकों से भी गये-बीते हैं? नहीं। यह मनुष्यों की मूर्खता है कि देवताओं का अनादर करते हुये ईश्वरप्राप्ति का प्रयत्न करें। प्रतिबिम्बस्वरूप में स्थित इन देवी-देवताओं का पूजन करने पर ही भगवत्साक्षात्कार, अमृतत्व-प्राप्ति सम्भव है। ▢▢

'पुराणेषु क्वचिच्चैव तन्त्र दृष्टं यथातथम्।
धर्मं वदन्ति तं धर्मं गृह्णीयान्न कथञ्चन।। —श्री देवी भागवत्

तात्विक स्वतन्त्रता

[स्वतन्त्रता की अनेक विध परिभाषाएँ की गयी हैं परन्तु विचारकों की दृष्टि में वे प्रायः अपूर्ण हैं, एकांगी हैं। स्वामी जी प्रत्येक शब्द की परख तात्विक एवं शास्त्रीय दृष्टि से करते हैं यही उनकी विशेषता है। प्रस्तुत लेख में स्वतन्त्रता की तात्विक परिभाषा पढ़कर आपको निश्चितरूपेण नयी दृष्टि प्राप्त होगी।]

स्वतन्त्र रहना प्राणिमात्र चाहता है। एक शुक (तोता) सुवर्ण, रत्न आदि के पिंजड़े में रह कर मधुर, मनोहर फल एवं पक्वान्न खाकर, शीतल, मधुर, सुगन्धित जल पीकर भी प्रसन्न नहीं होता। वह स्वतन्त्र रहकर, खट्टे फल खाकर, खारा पानी पीकर भी स्वच्छन्दता के साथ वन, वृक्षों की टहनियों पर विहरण करने में सन्तुष्ट रहता है। फिर सम्पूर्ण प्राणी स्वतन्त्रता क्यों न चाहे ? प्राणी स्वतन्त्रता ही नहीं, उसके साथ जीना, जानना और सुखी रहना भी चाहता है। इस तरह जीना, जानना, सुखी रहना, स्वतन्त्र रहना और साथ ही सब पर शासन करना सब चाहते हैं।

अनन्त जीवन (सत्ता), अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त स्वातन्त्र्य और अनन्त अव्याहत शासन केवल एक परब्रह्म परमात्मा ही में होता है। ये पाँचों अनन्तरूप से जहाँ हैं, वहाँ परमात्मा है। जीवात्मा इन पांचों वस्तुओं को अनन्तरूप से चाहता है। इसी से मालूम होता है कि प्राणिमात्र परमात्मा का अंश है और उसी परमात्मा को पाना चाहता है। वही परमात्माप्राप्ति -- मोक्ष है। मोक्ष होने पर जीव का जीवत्व मिट जाता है और जीव परमात्मा हो जाता है। तभी अनन्त जीवन, अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त स्वातन्त्र्य भी प्राप्त हो सकता है। जीवत्व रहते, चाहने पर भी ये चीजें अनन्तरूप में नहीं प्राप्त हो सकतीं। स्पष्ट ही है किसी का अनन्त जीवन, अनन्त ज्ञान और अनन्त स्वातन्त्र्य आदि नहीं देखा जाता, फिर भी पांचों चीजें चाही जाती हैं।

प्राणियों के प्रयत्नानुसार अपेक्षिक वस्तु अधिक रूप में मिलती भी है। कुछ वर्षों का जीवन, कुछ विषयों के ज्ञान, कुछ आनन्द, कुछ स्वतन्त्रता और कुछ ही शासन पर प्राणियों को संतोष करना पड़ता है। हाड़-मांस-चाम के पुतले, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशों से घिरे हुए, कर्म बन्धनों में बंधे हुए, आधि-व्याधि, रोग, दोष, जरा, मरण से परतन्त्र जीव को कहाँ

न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत् ।
अधार्मिकाणां पापानां पश्यन्नाशु विपर्ययम् ॥—मनुस्मृति

अनन्त ज्ञान और कहाँ अनन्त स्वतन्त्रता ? जिसे अन्त में निश्चित रूप से मृत्यु के मुख में पड़ना पड़ता है। उसको कैसी स्वतन्त्रता ?

किसी को भी महती स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये कुछ स्वतन्त्रताओं का बलिदान देना पड़ता है। हाँ, तो अनन्त स्वातन्त्र्य प्राप्त करने के लिए माता-पिता, गुरुजनों एवं शास्त्रों के परतन्त्र होकर अधर्म-परिवर्जन और धर्मपालन करते हुए उपासना की जाय, फिर वेदांत का श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा सर्वाधिष्ठान प्रत्यगभिन्न परमात्मा का साक्षात्कार कर कैवल्यरूप परमात्मा की प्राप्ति करनी चाहिये। उसी स्थिति में प्राणी को परम आनन्द, परम स्वातन्त्र्य मिल सकता है। प्राणिमात्र को अन्त में उसी तत्त्व में मिलना है। इसीलिए कहा जाता है कि स्वतन्त्रता सभी को अभीष्ट है और उसके लिए प्रयत्न भी होना चाहिये। शूकर-कूकर, कीट-पतंग आदिकों को मानव जन्म मिलने पर ही उस स्वतन्त्रता का प्रयत्न करना संभव है, परन्तु मनुष्य इस जन्म में भी प्रयत्न कर सफल हो सकता है। मनुष्यों में भी वर्णाश्रम के अनुसार कर्मों के भेद हैं। फिर भी यथासंभव स्वतन्त्रता की कामना सर्वत्र है ही, अतः तदनुकूल प्रयत्न भी आवश्यक है। अत्यन्त परतन्त्र प्राणी परम स्वतन्त्रता के साधन धर्म, उपासना आदि का भी अनुष्ठान न कर सकेगा, अतएव आपेक्षिक स्वतन्त्रता के लिए भी प्रयत्न अपेक्षित है। उष्ट्र, गर्दभ, अश्व, आदि जीव भी आपेक्षिक स्वतन्त्रता पाते हैं, परन्तु मनुष्यों के कार्यों में उन्हें फँसना पड़ता है। जैसे जीवों में देव, मनुष्य, पश्वादि उच्चावचभाव हैं, जैसे घोड़े आदि जानवरों में भी उच्चावचभाव होते हैं, वैसे ही मनुष्यों के भी ये भेद हैं।

साधारण रूप से जेलों में बन्द, हथकड़ी-बेड़ियों से बँधे, विदेशियों से नियन्त्रित लोग अपने को परतन्त्र समझते हैं, इन बन्धनों से छुटकारा पाने को स्वतन्त्रता कहते हैं। यह आपेक्षिक ही स्वतन्त्रता है। सुख-दुःख और मरने आदि की परतन्त्रता के अतिरिक्त सभी व्यक्तियों और समूहों को किसी न किसी शासन के परतन्त्र रहना पड़ता है। व्यक्तियों को समाज के परतन्त्र रहना पड़ता है। किसी प्रकार के शासन में शासन-विधान एवं दण्डनीति आवश्यक होती है। इन्जीनियर और मजदूरों के अधिकारों और स्वतन्त्रताओं, एवं न्यायाध्यक्ष और अभियुक्तों तथा सैनिक और सेनापतियों के अधिकारों और स्वतन्त्रताओं में भी महान भेद है, इसीलिए परमात्मभाव प्राप्ति से पहले की सभी स्वतन्त्रता सीमित होती हैं। समाज, राष्ट्र तथा विश्व में किसी की निःसीम स्वतन्त्रता नहीं हो सकती और न वह लाभदायक भी हो सकती है। आजकल भी व्यवहार में निःसीम स्वतन्त्रता उच्छृङ्खलता कही जाती है, इसीलिए पूर्ण अनुशासन ही सभ्यता का मुख्य लक्षण समझा जाता है। यदि बालक स्वतन्त्रता की धुन में माता, पिता, गुरुजनों की आज्ञा न मानेगा तो शिक्षा ग्रहण करने में तत्पर न होकर मूर्ख रह जायगा। फिर तो परतन्त्रता उसके भाग्य की चीज हो जाती है, क्योंकि मूर्ख, बुद्धिहीन प्राणी कभी

इदं पुण्यमिदं पापमित्येतस्मिन् पदद्वये।
आचाण्डालं मनुष्याणां समं शास्त्रप्रयोजनम् ॥

स्वतन्त्र नहीं रह सकता। उसकी मिली हुई भी स्वतन्त्रता छिन जाती है। सिंह शार्दूल जैसे बलवान जीव भी बुद्धि की कमी से अधिक बुद्धिमान मनुष्यों के बन्धन में आ जाते हैं। निःसीम स्वतन्त्रता मान्य नहीं है इसीलिए सभी सभ्य देशों में उच्छृंखलता, कामचारिता और स्वच्छन्दता को दूर करने के लिए प्रवृत्ति-निवृत्ति की सीमा है।

कहीं अवेस्ता, कहीं बायबल, कहीं कुरान आदि धर्मग्रंथ प्रवृत्ति-निवृत्ति आदि व्यवहारों के सीमा निर्धारण करने वाले माने गये हैं। जहाँ धर्मग्रंथ नहीं हैं, वहाँ भी मानव समाज ने कुछ नियम या कानून बना रखे हैं। तात्पर्य यह कि आर्थिक, नैतिक, सामाजिक, धार्मिक सभी क्षेत्रों की सीमित स्वतन्त्रता परमादरणीय है, परन्तु निःसीम स्ववन्त्रता अर्थात स्वच्छन्दता किसी भी क्षेत्र की मान्य नहीं। अपने शास्त्र के अनुसार ही धार्मिक, आध्यात्मिक उन्नति करने से एवं शास्त्राविरुद्ध मार्ग से ही आर्थिक, सामाजिक सुविधा प्राप्त की जा सकती है। अतः धर्मराज्य में द्विजों को स्वतन्त्रता होगी या शूद्रों को भी, इस प्रश्न का अवकाश ही नहीं रहता। शास्त्रों ही की सीमा के भीतर सबको स्वतन्त्रता रहेगी, सीमा के बाहर किसी को भी स्वतन्त्रता नहीं।

जो शूद्र के धन कमाने के विषय में शंका उठाई गई है, वह भी निर्मूल है वैदिक वर्णाश्रमानुसारिणी समाज-व्यवस्था में शूद्र को ही नहीं, ब्राह्मण क्षत्रियों को भी अधिक धन संग्रह निषिद्ध है। इसीलिए ब्राह्मण के लिये शिल-उञ्छ आदि प्रवृत्तियों की ही प्रशंसा है। कुशूलधान्यक, कुम्भीधान्यक, त्र्यहिक, अश्वस्तनिक ब्राह्मणों में उत्तरोत्तर की श्रेष्ठता कही गई है। 'ज्यायानेषां परः परः।' ब्राह्मणोत्तम परिव्राजक के लिए भी धनसंग्रह पाप है। राजा के लिये तो प्रजा के हितार्थ ही धन का उपयोग कहा गया है। यहाँ धन संग्रह का पूर्णाधिकार वैश्य ही को है, इसीलिये हमारे यहाँ का धनपति वैश्य ही है।

समाज को आवश्यक भिन्न-भिन्न चीजों के भिन्न-भिन्न अध्यक्ष हैं। ब्राह्मण ज्ञान का अध्यक्ष है, उसी से यथायोग्य सबको ज्ञान मिला करेगा। क्षत्रिय बलाध्यक्ष है, उसी के बल के सबकी रक्षा होगी। वैश्य धनाध्यक्ष है, राष्ट्र को आवश्यक धन उसी से मिल सकेगा। शूद्र सेवाध्यक्ष है, सबको सेवा का प्रबन्ध उसी से प्राप्त होगा। अतः यद्यपि साधारण धन ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र को रखने का अधिकार है, तथापि धन का मालिक वैश्य ही है। इसी तरह साधारण ज्ञान सभी प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु ज्ञान का पूर्ण अध्यक्ष ब्राह्मण ही है समाज की सुविधा के लिए यह शास्त्रीय व्यवस्था 'आपसी समझौता' है। ब्राह्मण किंवा शूद्र राज्य या धन के मालिक न होने से तिरस्कृत माने गए हैं यह कल्पना व्यर्थ है।

श्रवणं सर्वधर्मेभ्यो वरं मन्ये तपोधनाः।
वैकुण्ठस्थो यतः कृष्णः श्रवणाद्यस्य लभ्यते॥ —भाग० माहात्म्य०

जो कहा जाता है कि—'जब अन्त्यजों को भजन करने, वेदमंत्र सुनने का अधिकार नहीं है तब तो ऐसा धर्मराज्य सवर्ण हिन्दुओं को भले ही लाभदायक हो, परन्तु अन्त्यजों को तो नरक से भी बढ़कर दुःखदायी है' यह भी उचित नहीं, कारण शास्त्रों में भजन करने की रुकावट किसी को नहीं है। अहिंसा, सत्य आदि नियमों को मानने, ईश्वर की उपासना करने, हरिनाम जपने, इतिहास-पुराणों की कथाओं को सुनकर अपने अधिकारानुसार धार्मिक कृत्य करने की अन्त्यजों को पूर्ण स्वतन्त्रता है। वेद के पढ़ने-सुनने का निषेध होने मात्र से, उन पर अत्याचार या उनकी स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं कहा जा सकता। जिस विषय में जिसका अधिकार न हो, उससे उसे रोकना, न रुकने पर दण्ड देना अत्याचार नहीं कहा जा सकता। अगर कोई अपने घर में किसी को घुसने से रोके, घुस आने पर दण्ड दे तो वह अन्याय नहीं है, न उसकी स्वतन्त्रता का छीनना ही है। यदि कोई डॉक्टर किसी को अपने औषधालय में घुसने और मनमानी किसी औषधि को खाने से रोकता है तथा न मानने पर कानूनी कार्यवाही करता है तो वह उसका अत्याचार नहीं कहा जा सकता।

ज्ञानाध्यक्ष ब्राह्मण शास्त्र के अनुसार जितना जिसके योग्य ज्ञान समझते हैं उतना उन्हें प्रदान करते हैं, शास्त्र जिन्हें मना करते हैं उनको नहीं प्रदान करते हैं। जैसे-चन्द्रोदय, मृगांक, त्रिकुटी, त्रिफला आदि सब औषधियाँ सबके लिए एक तरह कल्याणकारक नहीं हैं, किंतु योग्यता एवं अधिकार के अनुसार ही उनसे लाभ होता है, ठीक वैसे ही सर्व ज्ञान, सर्व शास्त्र, सबके लिये लाभदायक नहीं हैं। शास्त्रों के मतानुसार जैसे ब्राह्मण का मदिरा-पान से अनिष्ट होता है वैसे ही अन्त्यजों को वेदाध्ययन से अनिष्ट होता है।

जैसे शरीर के भीतर सिर, आँख, कान, हाथ, पैर आदिकों के अलग-अलग काम होते हैं, सबके एक से कर्म नहीं, वैसे विराट या समाज के मुख बाहु आदि रूप ब्राह्मण, क्षत्रियों के कर्म अलग-अलग हैं। अधिकारी के ही शब्दों का महत्व है। अमुक को दण्ड हो, अमुक द्रव्य दो, इत्यादि वचनों को उन्मत्त भी बोलता है, राजा या न्यायाध्यक्ष भी बोलता है। राजा आदि के उच्चरित उपर्युक्त शब्द सार्थक हैं, उन्मादी-उच्चरित शब्द निरर्थक हैं। इसी तरह शास्त्रों ने जिन्हें वैदिक शब्दों के बोलने पढ़ने का अधिकार दे रखा है उनका उच्चारण सार्थक है, जिनको शास्त्रीय अधिकार नहीं उनका उच्चारण व्यर्थ ही नहीं हानिकारक भी है। शास्त्रीय अधिकार का निर्णय शास्त्र से ही कर सकते हैं। जो जिसका पण्डित हो वही उसका स्पर्श कर सकता है जैसे एक बुद्धिमान वकील भी घड़ी के पुर्जों को छुवेगा तो हानि होगी, इसी तरह शास्त्र का अपण्डित शास्त्र का स्पर्श करेगा तो अनर्थ करेगा।

कुछ लोग कहते हैं ईश्वर की वस्तु के सब अधिकारी हैं, परन्तु ईश्वर की मसजिद पर कब्जा

सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतत् सनातनम्। —आश्वमेधिक० ९१/३४

करे, ईश्वर की बनाई किसी की स्त्री पर कब्जा करे या विष को खाय, तब सबके अधिकार का पता लगेगा। फिर भी उनके लिए इतिहास-पुराणों के श्रवण द्वारा दिव्यज्ञान प्राप्त करने का अधिकार शास्त्रों ने दे रखा ही है। जैसे इक्षुसार सिता, शर्करा, कन्द आदि पदार्थों को देकर भी बालक के हाथ मे इक्षुदण्ड (ईख का टुकड़ा) छीनने वाली मां हितैषिणी ही है, वैसे ही इतिहास-पुराणों द्वारा वेदार्थ-सार प्रदान करके वेदाध्ययन रोकने वाले शास्त्र उनके हितैषी ही हैं।

सारांश यह कि शास्त्रों के अनुसार ही स्वतन्त्रता एवं उन्नति-साधन धर्मराज्य में मान्य होता है, शास्त्र-विपरीत नहीं। शास्त्रानुसार ही चलकर संसार-काल में सीमित आर्थिक, नैतिक, मामाजिक, आध्यात्मिक और धार्मिक स्वतन्त्रता मिलती है। भगवान् को प्राप्त कर मुक्त हो जाने पर पूर्ण स्वतन्त्रता और पूर्ण आनन्द सभी को समानरूपेण प्राप्त हो सकता है।

जो शास्त्रानुसारी आचरण को अन्धानुकरण समझकर धर्म में अकल की दखल चाहते हैं, उन्हें अवश्य अकल की भी परीक्षा कर लेनी चाहिये। यह सभी जानते हैं कि अकल से ही उत्थान और पतन होता है। इसीलिए अकलमन्द किसी कसौटी पर अकल की सच्चाई, अच्छाई की परीक्षा करते हैं।

बुद्धि के ही परिणाम भ्रमात्मक और प्रमात्मक दो प्रकार के ज्ञान होते हैं। प्रमात्मक ज्ञान मान्य है, भ्रमात्मक ज्ञान उपेक्ष्य है, इसीलिए 'प्रामाण्यवाद' के अनुसार ज्ञानों के प्रामाण्याप्रामाण्य पर विचार किया जाता है। प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि आदि प्रमाणों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रमा है, आदरणीय है, अन्य नहीं। प्रत्यक्ष मात्र से काम न चल सकने के कारण ही अनुमान, प्रत्यक्षानुमान से काम न चलने पर ही आगम माना जाता है। जैसे यदि कान के बिना नेत्रादि से कान के विषय शब्द का ज्ञान हो जाता तो कान की अपेक्षा नहीं थी, वैसे ही यदि प्रत्यक्ष, अनुमान से काम चल जाता तो शास्त्रप्रमाण मानने की अपेक्षा नहीं थी। जैसे शब्द का ज्ञान कान से ही होता है नेत्रादि अन्य इन्द्रियों से नहीं, वैसे ही धर्म का ज्ञान शास्त्र से ही होता है अन्य प्रत्यक्ष, अनुमान से नहीं। इसीलिए संसार के सभी धर्मवादियों ने (दीनदारों ने) किसी न किसी धर्मग्रंथ को प्रमाण मान रखा है। जिसका कोई धर्म नहीं उसकी बात ही और है। यज्ञ, तप, दान, व्रत, संयम आदि का क्यों क्या किसे फल होगा इसके समझने में स्वतन्त्र अकल वैसे ही असमर्थ है जैसे शब्द के ज्ञान में नेत्र। जैसे नेत्र विषय रूप में कान का और कान के विषय शब्द में नेत्र का दखल मानना व्यर्थ है, वैसे ही शास्त्र के विषय धर्म में अकल को दखल व्यर्थ है। जहाँ प्रत्यक्षानुसारिणी अनुमानानुसारिणी अकल (प्रमारूपिणी बुद्धि) का भी धर्म में दखल नहीं है, फिर स्वतन्त्रप्रमाणशून्य भ्रमात्मक अकल के दखल का तो कहना ही क्या है।

धर्ममूले सत्यदाने। --चाणक्य

हाँ ! शास्त्रानुसारिणी शास्त्रजन्य अकल का दखल मानने में कोई आपत्ति नहीं है। अग्निहोत्र, ज्योतिष्टोम होम से स्वर्ग कैसे होगा ? मूर्तिपूजा या जप से कौन देवता क्यों प्रसन्न होगा ? इत्यादि विषयों में कोई अकल की दखल रखता हो तो बताए। हाँ, ग्रंथ या पुस्तकमात्र शास्त्र नहीं। जो अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र या आधुनिक ग्रंथ मनुष्यों के बनाये हैं, वे प्रायः प्रत्यक्षानुमानमूलक हैं इसीलिए वहाँ प्रत्यक्षानुमान की प्रवृत्ति होती है। वे शास्त्र अपौरुषेय नहीं माने जाते, न उनका स्वतन्त्र प्रामाण्य भी माना जाता है। इसीलिए बौद्धों के यहाँ बड़े-बड़े भी गम्भीर ग्रंथ हैं, परंतु वे प्रत्यक्षानुमानमूलक ही हैं। अतएव वे आगम प्रामाण्यवादी नहीं हैं, केवल प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण मानते हैं। वेद, शास्त्र में प्रत्यक्षानुमान के अविषय धर्म और ब्रह्म का प्रतिपादन करने से ही प्रत्यक्षानुमान से अतिरिक्त स्वतंत्र प्रमाण माने जाते हैं। इसीलिए नेत्र से पृथक कान के समान प्रत्यक्षानुमान से पृथक आगम प्रमाण की मान्यता है। अतः ठीक जैसे कान के विषय में नेत्र का दखल नहीं, उसी तरह शास्त्रविषय धर्म में उच्छृङ्खल अकल या प्रत्यक्षानुमानानुसारिणी अकल की दखल नहीं।

जो वेदों को सुनना पढ़ना चाहेगा वह तो उन पर आदर और विश्वास रखकर ही ऐसा चाहेगा। यदि शास्त्रों पर विश्वास ही है तब तो उसके अनुसार अध्ययन के अधिकार-अनधिकार को भी मानेगा। जो शास्त्रों के अधिकारानधिकार पर विश्वास नहीं रखता, उसे वेद के पढ़ने-सुनने की रुचि ही क्यों ? कारण वेदों में बतलाये गए अनुयाज, प्रयाज, देवता, स्वर्ग आदि कैसे, क्यों, क्या उपयोग होता है इस विषयों में चाहने पर भी अकल नहीं दौड़ सकती। जब ऐसे ग्रंथों को सुनना-पढ़ना चाहते हैं तो अधिकारों अनधिकारों पर भी विश्वास करना ही होगा। फिर जिसका अधिकार जिन ग्रंथों के अनुसार ही नहीं उसे उनके पढ़ने से रोकना, न मानने पर दण्ड देना, अन्याय या स्वतंत्रता का छीनना कैसे कहा जा सकता है ?

सम्पूर्ण कथन का अभिप्राय इतना ही है कि शास्त्रों के अनुसार सीमा के भीतर आर्थिक, नैतिक, सामाजिक, धार्मिक उन्नति और स्वतंत्रता का सदुपयोग करते हुए सुख, शांति के साथ अनंत आनंद, अनंत ज्ञान, अनंत सत्ता, अनंत स्वातंत्र्य को प्राप्त करने के लिए अग्रसर होना यही धर्मराज्य की स्वतंत्रता है। □□

न धर्मोऽस्तीति मन्वानः शुचीनवहसन्निव ।
अश्रद्दधानश्च भवेद् विनाशमुपगच्छति ॥ —महा० शा० पर्व

आदर्श शासक का स्वरूप

[स्वामी जी महान चिंतक एवं भारतीय राजनीति के धुरंधर विद्वान थे। वे स्वतंत्र भारत के वर्तमान सैक्यूलरवाद के एकदम विरुद्ध थे। उनका स्पष्ट उद्घोष था कि भारत का शासन विधान शास्त्रीय हो, भारतीय हो। इसके लिये उन्होंने यावज्जीवन भरसक प्रयास किये, आन्दोलन किये, पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन किया, रामराज्य परिषद की स्थापना का परंतु वर्तमान धर्म-निरपेक्षता की भयंकर आंधी को वे रोक नहीं सके। परंतु उन्होंने बड़ी निर्भीकतापूर्वक आध्यात्मवाद पर आधारित सर्वकल्याणकारी राजनीति का विशद रूप से विवेचन किया है अपने ग्रंथों में। प्रस्तुत लेख में उन्होंने आदर्श शासक के स्वरूप पर थोड़ा सा प्रकाश डाला है जिससे उनके निर्मल विश्वकल्याणकारी विचारों की झलक मिलती है।]

धर्मप्राण भारत में सच्चे अर्थ में ऐसे शासन का निर्माण होना अत्यन्त अपेक्षित है जो जनता को पूर्ण सुखी एवं शांत बना सके। रामायण काल, महाभारत काल, चन्द्रगुप्त काल के इतिहास सभी को ज्ञात हैं। इन इतिहासों के आधार पर यह स्पष्ट है कि वेदों, शास्त्रों के अनुसार धर्मोन्निति में ही राष्ट्रोन्नति समझकर यदि धार्मिकता को पूर्ण प्रश्रय प्रदान किया जाय तो निश्चित ही एक ऐसी स्थिति लायी जा सकती है, जिसमें भारत देश नहीं, वरन समस्त विश्व धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि समस्त क्षेत्रों में पूर्ण समुन्नत होकर सुखमय, शांतिमय जीवन व्यतीत कर सकता है।

हम महाकवि कालिदास के शब्दों में समुद्रवसना निखिल धारित्री के एक मात्र अधीश्वर रघुवंशी शासकों के पवित्र चरित्र पर दृष्टि डालें। रघुवंशी शासक जन्म से ही आंतर एवं वाह्य दोनों दृष्टियों से अत्यंत शुद्ध थे, वे इतने पवित्रान्तःकरण थे कि उनके सभी कर्म फलोदयपर्यवसायी होते थे। उनकी सार्वभौम प्रभुता का क्षेत्र इतना विशाल था कि उनके रथ की गति इन्द्र आदि देवताओं के लोक तक निरबाध रूप में अप्रतिहत थी। इतना ही नहीं अपने गुणवैभव के महात्म्य से मनुष्य होते हुए देवेन्द्र इन्द्र के अर्धासन पर समासीन होते थे।

सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम् ।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम् ॥

उनमें शास्त्रीय स्वकर्त्तव्य निष्ठा इतनी सुदृढ़ थी कि यथाधिकार यथासमय अग्निहोत्र आदि

यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः ।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥ —मनुस्मृति

धर्म का अनुष्ठान पूर्ण सश्रद्ध होकर करते थे। अर्थ के प्रति अनावश्यक स्पृहा से वे इतने विरहित थे कि यथेच्छ अर्थप्रदान के द्वारा अर्थियों का पूर्ण सम्मान करते थे। अपने कुल की प्रतिष्ठा का मेरुदण्ड अर्थी की अभिलाषापूर्ति को ही बना रखे थे। ऐसे मेरुदण्ड की सुदृढ़ आधारभित्ति परदुःखकारता ही है, अतएव परदुःखकारता से सम्पन्न होते हुए भी रघुवंशी शासक अपराधियों को यथोचित दण्ड देने में किञ्चित् मात्र भी ममता या सहज अनुराग का महत्व नहीं रखते थे। अपने पुत्र, पत्नी तक को भी कड़ा से कड़ा उपयुक्त दण्ड देने के लिए सदा उद्यत रहते थे और धर्म, काम एवं मोक्ष सेवन के लिए यथाकाल निरलस होकर पूर्ण प्रबुद्ध रहते थे।

यथाविधि हुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम्।
यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम्॥

राज्य से वैध उपायों द्वारा धनसंग्रह त्याग के लिए ही किया करते थे। वे प्रतिक्षण यही सोचते रहते थे कि राज्य से लिया गया एक पैसा भी किस अवसर से कैसे पुनः राज्य के ही लिये लगाया जाय जिससे एक का लाख, करोड़ होकर राज्य को अभिवृद्ध करे। सत्यभाषिता की सुरक्षा के लिए ही मितभाषी होते थे। यश के उपार्जन के लिये ही विजिगीषु होते थे। अर्थलोभ या द्वेषवश नहीं। विवाह यथाशास्त्र वर्ण, गोत्र आदि का विचार करके करते थे, वह भी इन्द्रियसन्तर्पण के लिये नहीं, बल्कि कुलव्रती, देशधर्मरक्षक योग्य पुत्र उत्पन्न करने के लिए।

त्यागाय सम्भृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्॥

शैशवकाल में धर्म, ब्रह्मप्रतिपादिका विद्या का अभ्यास, युवावस्था में धर्म एवं ईश्वर में पूर्ण परिनिष्ठित होते हुए धर्मविरुद्ध अर्थ, काम की अभिलाषा और वृद्धावस्था में विषयभोग एवं विषयदोषदर्शन की प्रणाली से पूर्ण विषयवितृष्ण होकर मुनिवृत्ति धारणपूर्वक अन्त में योग के द्वारा शरीरपारित्याग ही रघुवंशी शासकों का आवश्यक कुलव्रत था।

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनांते तनुत्यजाम्॥

रघुवंशी शासकों का जैसा आकार था, उसके अनुरूप ही उनकी उत्तम प्रज्ञा थी और प्रज्ञा के सदृश ही आगम (परम्पराप्राप्त शास्त्रज्ञान) था। आगम के सदृश ही उनके आरम्भ होते थे और आरम्भानुसार ही महान फलोदय होता था।

आकारसदृशप्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः।
आगमैः सदृशारम्भ आरम्भसदृशोदयः॥

फलतोऽपि च यत्कर्म नानर्थेनानुबध्यते।
केवलं प्रीतिहेतुत्वात् तद्धर्म इति कथ्यते॥ —मीमांसाचार्य

सेना आदि सर्वविध साधनों से सम्पन्न भी रघुवंशी अर्थसिद्धि का माध्यम दो ही बना रखे थे, एक तो शास्त्रों में अकुण्ठित बुद्धि, दूसरी धनुष पर चढ़ी प्रत्यञ्चा। उनके मंत्र सर्वथा गुप्त होते थे, उनके आकार एवं इंगित गूढ़ होते थे। उनके आरम्भ का ज्ञान फलों के द्वारा वैसे ही होता था जैसे स्मरण आदि के द्वारा प्राक्तन संस्कारों का ज्ञान होता है।

सेनापरिच्छदस्तस्य द्वयमेवार्थसाधनम्। शास्त्रेष्वकुण्ठिता बुद्धिः मौर्वी धनुषि चातता॥
तस्य संवृतमन्त्रस्य गूढ़ाकारेङ्गितस्य च। फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव॥

भारत के रघुवंशी शासक निर्भय रहते हुए आत्मरक्षा में दत्तचित्त थे किसी भी प्रकार के कष्ट से आक्रांत न रहते हुए स्वधर्मपालन में पूर्ण तत्पर रहते थे, सर्वथा निर्लोभ रहते हुए कर्तव्यबुद्धि से अर्थसंग्रह करते थे और अनासक्त रहते हुए सुखोपभोग करते थे —

जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः।
अगृध्नुराददे सोऽर्थमसक्तः सुखमन्वभूत्॥

रघुवंशी शासकों में सच्चे अर्थ में विश्वकल्याण की दृष्टि से विशुद्ध शास्त्रीय आदान-प्रदान परम्परा इतनी परिनिष्ठित और ऊँची उठी हुई थी कि वे मनुष्यलोक में रहते हुए देवलोक के अधिपति इन्द्र के साथ भी सम्पद्‌विनिमय किया करते थे। स्वयं शास्त्रीय विधि के अनुसार पृथ्वी से धन-दोहन कर विविध यज्ञों के द्वारा इन्द्र को प्रसन्न करते थे, और इन्द्र से उसके प्रतिदान में पृथ्वी को पूर्ण सस्य-श्यामला वसुन्धरा बनाने के लिए यथासमय जल प्राप्त किया करते थे, इसी तरह परस्पर मनुष्यलोक और देवलोक का सफलता से धारण होता था।

दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम्।
सम्पद्‌विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम्॥

इन्हीं विशेषताओं का फल था कि भारतीय रघुवंशी शासकों के शासनकाल में जनता पूर्ण सुखी, शांत एवं हर दृष्टि से समृद्ध थी। धार्मिकता, आचारनिष्ठा का इतना प्रभाव था कि कोई व्यक्ति मन से भी अन्याय, अत्याचार नहीं सोच पाता था। कार्तवीर्यार्जुन इतना बाह्याभ्यन्तरपरिशुद्ध कर्त्तव्यनिष्ठ था कि अपने शासन में हर एक व्यक्ति के मन का भी नियन्त्रण करता था। जब कभी भी उसके शासन में कोई मन से भी अनुचित कार्य सोचता तभी कार्तवीर्यार्जुन धनुष बाण धारण किया हुआ उसके समक्ष दण्ड देने के लिये प्रस्तुत हो जाता था—

अकार्यचिन्तासमकालमेव, प्रादुर्भवंश्चापधरः पुरस्तात्।
अन्तःशरीरेष्वपि यः प्रजानाम्, प्रत्यादिदेशाविनयं विनेता॥

भारतीय शासकों की इस प्रभावगरिमा का ही महत्व था कि प्राकृतिक तत्व भी यथासमय

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
हरिराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोषकारणम्॥ —श्रीविष्णु पुराण

स्वकर्त्तव्यपालन से कभी भी न चूकते थे। रघुवंशी शासक दिलीप नन्दिनी की सेवा के लिये अरण्य में ज्यों ही प्रवेश किये त्यों ही बिना वृष्टि के ही दावाग्नि शांत हो गयी, वन में फल पुष्पों की स्वतः वृद्धि हो गयी, दिलीप की सहजन्यायशीलता के प्रभाव से प्रबल प्राणी दुर्बलप्राणियों को सताने से स्वयं विरत हो गये—

शशाम वृष्ट्यापि बिना दवाग्निरासीद्विशेषा फलपुष्पवृद्धिः।
ऊनं न सत्वेष्वधिको बबाधे, तस्मिन् वनं गोप्तरि गाहमाने ।।

दिलीप के शासनकाल की ही यह आदर्श स्थिति थी कि विहारों (उद्यानों) की ओर जाने वाले मार्गों पर प्रसुप्त मदोन्मत्त सुन्दरी वेश्याओं के अंगसंलग्न वस्त्रों को वायु भी विवस्त्र नहीं कर सकता था, फिर कोई व्यक्ति उनका स्पर्श कर ले, यों तो कल्पना से परे की बात थी।

तस्मिन् महीं शासति वाणिनीनाम्, निद्रां विहारार्धपथे गतानाम्।
वातोऽपिनाऽस्त्रंसयदंशुकानि, को लम्बयेदाहरणाय हस्तम्।

रघु कौत्स ऋषि से समाचार पूछने के प्रसङ्ग में यही पूछते हैं कि कहीं आप के आश्रम के वृक्षों को वायु आदि उपद्रवग्रस्त तो नहीं करते हैं—

'कच्चिन्न वाय्वादिरुपप्लवो वः श्रमच्छिदामाश्रमपादपानाम्।"

यह है आदर्श शासक का स्वरूप। क्या आज ऐसे शासन की अपेक्षा जनता को नहीं है? यदि है, तो ऐसे शासन की मुख्य रीढ़ धार्मिकता को प्रमुख स्थान अवश्य देना होगा। 'दुष्यन्त' के शासन का वर्णन करते हुए महाभारत में यहाँ तक लिखा है कि उस समय कृषि और खजाने की रक्षा नहीं करनी पड़ती थी, ये स्वयं पूर्ण सुरक्षित थे। क्या ऐसी ही उत्तम स्थिति आज लाना आवश्यक नहीं है? यदि है, तो स्वयं भलीभांति समझना होगा कि ऐसी स्थिति लाने में प्रमुख कारण क्या है? स्वयं महाभारत में व्यासजी कारण बताते स्पष्ट कहते हैं—

'धर्मे रतिं सेवमाना धर्मार्थावभिपेदिरे।'

अर्थात स्वधर्मपालन में सहज रति होने से धर्म और अर्थ दोनों ही पुष्कल मात्रा में स्वतः प्राप्त थे, फलतः परस्वापहरण आदि अनुचित कार्य में प्रवृत्ति ही क्यों हो? क्या ऐसे महत्त्वमय धर्म को प्रमुखता प्रदान कर सुखी एवं शांत होना आज अभिप्रेत नहीं है? यदि है तो अवश्य ही धार्मिक शासन का निर्माण करना होगा। तभी तो श्रीतुलसीदासजी ने कहा—

'चाहिये धर्मशील नरनाहू।'

निष्कर्षतः आदर्श शासक का स्वरूप पूर्णधर्मनिष्ठा—जिसे दूसरे शब्दों में सत्कर्त्तव्यनिष्ठा कह सकते हैं—में ही निहित है। ◻◻

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः।
भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः ।। --श्रीमद्भागवत

भारतीय राजनीतिक दर्शन एवं उसका उद्देश्य

[प्रायः पाश्चात्य विचारकों की धारणा है कि भारत-वर्ष को राजनीतिक दर्शन उन्हीं की देन है; परन्तु स्वामी जी ने प्रस्तुत लेख में सिद्ध किया है कि हमारे यहाँ के विचारक दार्शनिक और राजनीतिज्ञ दोनों थे। वेद, महाभारत, गीता, योग-वसिष्ठ आदि सभी में दर्शन के साथ-साथ राजधर्म भी भरा पड़ा है। किन तात्विक शब्दों में स्वामी जी ने भारतीय राज-नीतिक दर्शन और उनके उद्देश्य को निरूपित किया है।]

पाश्चात्य विद्वान् किसी भी विचार को दर्शन या शास्त्र का नाम दे दिया करते हैं—जैसे गर्भशास्त्र, प्राणिशास्त्र, मार्क्स दर्शन आदि। किन्तु शास्त्र और दर्शन की मार्मिकता का परिचय जिन भारतीय विद्वानों को प्राप्त है, वे तो मुख्य रूप से अनादि अपौरुषेय वेद को ही शास्त्र कहते हैं। क्योंकि वेद ही उन तत्वों के अवबोधन में सक्षम हैं जिनकी अधिगति प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से असम्भव हैं। 'शास्त्रयोनित्वात्' इस ब्रह्मसूत्र में भगवान् व्यास ने शास्त्र शब्द से ऋग्वेद आदि वेदों को ही कहा है।

'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते। एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥'

यह उक्ति भी वेदों में ही शास्त्र शब्द के प्रयोग के दृढ़ीकरण में पर्यवसित होती है। रूप आदि के विषय में चक्षु आदि इन्द्रियों के स्वतः प्रामाण्य की तरह अतीन्द्रिय एवं अचिन्त्य धर्म, ब्रह्म आदि के विषय में अपौरुषेय वेदों का ही स्वतः प्रामाण्य है। अन्य वेदानुसारी, वेदार्थोपबृंहक विभिन्न आर्ष ग्रन्थ वेद मूलक होने से ही प्रमाण कोटि में आते हैं। उनमें 'शास्त्र' शब्द का व्यवहार भी वेदमूलक होने से ही उत्पन्न होता है। दर्शन का भी वास्तविक स्वरूप प्रमाण प्रमेय, साधन फल आदि का प्रामाणिक निर्देश ही है। पाश्चात्य दर्शनों की सीमा वहीं तक है जहाँ तक उत्सुकता की निवृत्ति और जिज्ञासा का उपशम हो, पर भारतीय दर्शनों की सीमा वहाँ तक मान्य है जहाँ तक परम्पराविरोधेन धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति एवं अव्यभिचरित तत्साधनों का सम्यक् ज्ञान हो।

आधुनिक समालोचक अधिकतर कहा करते हैं कि—'पाश्चात्य देशों में राजनीतिक दर्शन उपलब्ध होते हैं, पर भारत में नहीं, क्योंकि पाश्चात्य विद्वान् राजनीतिक एवं दार्शनिक दोनों ही थे, किन्तु भारतीय राजनीतिज्ञ दार्शनिक नहीं थे।' पर यह कथन सर्वथा निःसार है। थोड़ी अन्तर्मुखता

"धर्मादर्थोऽर्थतः कामो कामात्सुखफलोदयः।
आत्मानं हन्ति तान् हत्वायुक्त्या यो न निषेवते।" —नीतिकार आचार्य कामन्दक

से विचार करने पर स्पष्ट है कि सभी दर्शनों का शिरोमणि वेदान्त है। वह वेदों के अन्तर्गत ही है और राजनीति भी वहीं उपलब्ध है। मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति आदि धर्म शास्त्रों में दर्शन भी है, राजनीति भी है। भगवान् वेदव्यास सबसे बड़े दार्शनिक और राजनीतिज्ञ हैं। वे ही वेदान्तदर्शन एवं महाभारत दोनों के ही रचयिता हैं। जिन लोगों ने महाभारत में मोक्ष धर्म, गीता दर्शन और शान्ति पर्व का राजधर्म पढ़ा है, उनको दृष्टि में उक्त शंका कोई महत्त्व नहीं रखती। वृहस्पति, कणिक, कौटल्य, कामन्दक आदि राजनीतिज्ञ होते हुये दार्शनिक भी थे। योगवासिष्ठ के वसिष्ठ महादार्शनिक और महाराजनीतिज्ञ थे। सूर्यवंश की राजनीति के वे ही कर्णधार थे। वस्तु स्थिति यह है कि पद वाक्य प्रमाण पारावरीण विद्वान् शब्द-शुद्धि आदि का कार्य पाणिनीय आदि व्याकरण से चलाते हैं, वाक्यार्थ निर्णय के लिये पूर्वोत्तर मीमांसा का उपयोग करते हैं, अनुमान आदि के विषय में न्याय- वैशेषिक का उपयोग करते हैं, तथा वे ही तत्त्व संचालन, चित्तनिरोध आदि में सांख्य एवं योग का उपयोग करते हैं। वे व्याकरण पूर्वोत्तर मीमांसा आदि अन्यत: अगतार्थ अपूर्व वस्तु का ही प्रतिपादन करते हैं। पाश्चात्य लोग अन्यत: गतार्थ वस्तुओं का भी निरूपण करके स्वतन्त्र दार्शनिक बनने की चेष्टा करते हैं।

वस्तुगत्या राजनीतिक शास्त्र या दर्शन का कार्य क्या है? इस पर अन्तर्मुख होकर विचार किया जाये तो स्पष्ट है कि राजाओं, शासकों एवं उनके द्वारा शासित भूखण्डों, अखण्ड भूमण्डल या प्रपञ्च मण्डल के प्राणियों के लिये ऐहिक आमुष्मिक अभ्युदय एवं परम नि:श्रेयस-प्राप्ति के अनुरूप प्रशस्त मार्ग का निश्चय करना और उसके अनुकूल अनुष्ठान-सौकर्य का प्रत्युपस्थान ही उनका कार्य है। ऐसी स्थिति में इस ढंग के अवबोधक अनादि अपौरुषेयवेद एवं तन्मूलक आर्य ग्रन्थ-मनु, नारद, शुक्र, वृहस्पति, अग्नि, मत्स्य, विष्णु धर्मादि पुराण, रामायण, महाभारत आदि राजनीतिक शास्त्र या दर्शन हैं। इनके अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि ये छ: प्रमाण मान्य हैं। मूल रूप में सत्य-अनृत, चेतन-अचेतन-दो ही तत्त्व हैं। चेतन में भी ब्रह्म, ईश्वर, जीव तीन भेद हैं। अचेतन में प्रकृति, महान्, अहंकार, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण—पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, वाक् पाणि, पाद, पायु, उपस्थ—पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान—पञ्च प्राण, मनोबुद्धि चित्ताद्यात्मक अन्त:करण—ये २४ भेद हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चतुर्वर्ग-प्राप्ति फल है। आचार्य परम्परा से पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र तथा षडङ्ग वेदों एवं अन्य आर्षग्रन्थों के आधार पर कर्त्तव्याकर्त्तव्य ज्ञानपूर्वक कर्त्तव्य पालन तथा अकर्त्तव्य परिवर्जन से धर्म की प्राप्ति होती है, धर्माविरुद्ध अर्थशास्त्रोक्त उद्योग में प्रवृत्त होने से अर्थ की प्राप्ति होती है। धर्म एवं अर्थ के अविरुद्ध कामशास्त्रोक्त मार्ग से शब्दादि साधन सामग्री द्वारा काम-प्राप्ति होती है और औपनिषद् परब्रह्म के तत्त्व विज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। □□

"धर्मश्चार्थश्च कामश्च त्रितयं जीवत: फलम्।
एतत्त्रयमवाप्तव्यमधर्मपरिवर्जितम् ॥" —महाभारत

भारतीय शासन विधान की रूपरेखा

[प्रस्तुत लेख में महान् राजनीतिज्ञ स्वामी श्री करपात्री जी महाराज ने राजधर्म, दण्ड-नीति आदि के शास्त्रीय स्वरूप को संक्षेप में निरूपित करते हुये बतलाया है, शासन विधान की रूप रेखा किस प्रकार की होनी चाहिये। उनका विचार था कि भारतीय राजनीतिशास्त्रानुसारी शासक उच्छृंखल नहीं होता था अपितु उस पर धर्म का शासन रहता था। उनका स्पष्ट उद्घोष था कि विश्वकल्याणकारी धर्म को नीति से अलग नहीं रखना चाहिये—शासक को धर्म विहीन नहीं होना चाहिये बल्कि उस पर सदा धर्म का नियन्त्रण रहने से वह कभी उच्छृंखल एवं निरंकुश नहीं हो सकता।]

चेतन, अमल सहज सुखस्वरूप सभी जीवात्मा स्वप्रकाश सच्चिदानन्द परमेश्वर के ही अंश हैं। इसीलिये श्रुति कहती है 'सभी प्राणी अमृतस्वरूप परमेश्वर के ही पुत्र हैं' "अमृतस्य पुत्राः" बोधस्वरूप जीवात्मा अखण्डबोधस्वरूप परमात्मा का अंश वैसे ही है जैसे महाकाश के अंश घटाकाश, अग्नि के विस्फुलिङ्ग, गङ्गाजल के तरङ्ग आदि अंश हैं। इसी सुदृढ़ आधार पर सभी की पारस्परिक सहज समानता स्वतन्त्रता, भ्रातृता मान्य है। अविद्याश्रय कर्म के सम्पर्क से जीवात्मा में मालिन्य तथा कर्मोपासना ज्ञान आदि से पुनः प्रसन्नता, निर्मलता एवं निष्कलङ्कता वैसे ही सम्भव होती है जैसे मलिन भूमि के सम्पर्क से जल में मलिनता तथा कतक निर्मली आदि औषध के सम्पर्क से पुनः शुद्धता सम्भव होती है। इस तरह पारस्परिक आत्मीयता एवं भ्रातृता का सहज सम्बन्ध होने से समस्त विश्व परस्पर पूरक की भावना से ही भावित रहे, शोषक की भावना से नहीं, एतदर्थ शासकीय स्तर पर एक ऐसी नीति की आवश्यकता होती ही है जो सभी लोगों के उचित नियमन के माध्यम से सर्वजन-हित एवं सर्वजनसुख का कारण हो।

यद्यपि ऐसी स्थिति लाने में 'धर्म' ही पूर्ण समर्थ है। जन-जन में धार्मिक भावना का पूर्ण विकास रहने पर सहज ही परस्पर पूरक की ही भावना बनी रहती और सत्ययुग में ऐसा ही था भी। उस समय न राज्य था, न राजा थे, न दण्ड था, न दाण्डिक ही थे। केवल धर्म के प्रभाव से समस्त प्रजा पारस्परिक सुरक्षा स्वयं कर लेती थी -

'न राज्यं न च राजासीन्न दण्डो न च दाण्डिकाः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥ (महा०, शान्ति, ५९)

"श्रुतिद्वैधं भवेद् यत्र, तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ।
स्मृतिद्वैधं तु यत्र स्याद् विषयः कल्प्यतां पृथक्॥" —श्री देवी भागवत

पर राजस, तामस भाव की वृद्धि के प्रभाव से अधर्म अनाचार का विस्तार होता है, फलतः सत्त्व एवं धर्म का ह्रास प्रारम्भ हो जाता है और मोह-वश ब्रह्मात्मविज्ञान संकुचित हो जाने से काम, क्रोध का विस्तार होने लगता है। बस, मात्स्यन्याय फैलते देर नहीं लगती, जन-जीवन खतरे में पड़ जाता है। ऐसी स्थिति में सर्वसामञ्जस्य एवं सर्वहित सम्पादन के लिये राज्य व्यवस्था की आवश्यकता आ पड़ती है। अहिंसा, सत्य आदि धर्म का प्रतिष्ठापन, ब्रह्मविज्ञान विस्तार और दण्डविधान— ये ही मात्स्यन्याय निरोध के मूल उपाय हैं। चाणक्य के अनुसार—

'सुखस्य मूलं धर्मः, धर्मस्य मूलमर्थः, अर्थस्य मूलं राज्यम्।
राज्यमूलमिन्द्रियजयः, इन्द्रियजयस्य मूलं विनयः, विनयस्य मूलं वृद्धोपसेवा ॥
(चाणक्य १ सूत्र ६)

अर्थात् सातिशय, निरतिशय सर्वविध सुख का मूल धर्म है, परन्तु धर्म का मूल अर्थ है, क्योंकि अधिकतर अर्थ रहने पर ही धर्मानुष्ठान सम्भव होता है। अर्थ का मूल राज्य है, राज्य का मूल इन्द्रियजय है, इन्द्रियजय का मूल वृद्धसेवा है, वृद्धों की सेवा का भी मूल विज्ञान है, इसलिये विज्ञान सम्पन्न होकर, जितात्मा होकर सर्वसुखार्थ प्रवृत्त होना आवश्यक है।

मनु के अनुसार –

'आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्। अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥
ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्। महाभूतानि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥"
(मनु १/५६)

सम्पूर्ण जगत् सृष्टि के प्रथम नाम-रूपसहित, कल्पनातीत, अलक्षण, सर्वतः प्रसुप्त, तमोमय अर्थात् अनिर्वचनीय अज्ञानविशिष्ट चिन्मात्र था। सर्वकारण परब्रह्म परमेश्वर स्वयम्भू भगवान् ही तम को अभिभूत करके इस अव्यक्त जगत् को व्यक्त करते हुये प्रादुर्भूत होते हैं। जैसे बसन्त, ग्रीष्म आदि ऋतुओं के बदलने पर ऋतुलिंग प्रकट होते हैं, उसी तरह प्राणी समयानुसार अपने कर्म प्राप्त करते हैं। कर्मानुसार ही चराचर विश्व का उत्पादन भगवान् करते हैं –

'यथाकर्म तपोयोगात् सृष्टं स्थावरजङ्गमम्' **(मनु १/४१)**

कर्मानुसार ही विविध योनियों में प्राणियों के जन्म होते हैं। कर्ममूलक सृष्टि विस्तार एवं वर्णाश्रम-व्यवस्था का प्रतिपादन करते हुये मनु ने आगे कहा है कि संसार में अराजकता प्रसृत होने पर सारी प्रजा भय से व्याकुल होकर इधर उधर भागने लगी, तब उसकी रक्षा के लिये प्रजापति ने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर इन आठ लोकपालों के अंश से राजा का निर्माण किया—

'सर्वथा वेद एवासौ धर्ममार्गप्रमाणकः।
तेनाविरुद्धं यत् किञ्चित् तत् प्रमाणं न चान्यथा ॥ —श्री देवी भागवत

"अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात्
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभुः ॥
इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥"

देवताओं के अंश से उत्पन्न होने के कारण ही राजा अपने तेज से सभी प्राणियों को दबा लेता है। राजा बालक हो तब भी मनुष्य समझकर उसका अपमान नहीं करना चाहिए। उस राजा के लिये भगवान् ने सभी प्राणियों की रक्षा करने वाले धर्मस्वरूप ब्रह्मतेजोमय दण्ड का निर्माण किया। उस दण्ड के भय से ही स्थावर, जंगम सभी अपने पदार्थों का उचित उपभोग कर पाते हैं तथा अपने कर्त्तव्य से विचलित भी नहीं होते—

"तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
भयाद् भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च ॥" (मनु० ७/१५)

दण्ड ही राजा, पुरुष, नेता, शासक और चारों आश्रमों के धर्म के साक्षी है—

"स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः
चतुर्वर्णाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥" (मनु० ७/१७)

दण्ड ही सभी प्रजा का शासक एवं रक्षक है। सभी के सोने पर दण्ड ही जागता है। विद्वानों ने दण्ड को ही धर्म कहा है। विचारपूर्वक प्रयुक्त दण्ड प्रजा का अनुरञ्जन करता है, अन्यथा प्रजाविनाश का ही कारण हो जाता है। यदि राजा आलस्य छोड़ कर दण्ड का विधान न करे तो बलवान् प्राणी दुर्बलों को वैसे ही पकाकर खायें जैसे लोग मछलियों को भूनकर खा जाते हैं। काक पुरोडाश खाने लग जाय, श्वान हवि चाटने लग जाये, किसी पदार्थ पर किसी का स्वत्व न रहे और छोटे बड़े तथा बड़े छोटे हो जायें। सभी वर्ण दूषित हो जायें, मर्यादाएं भंग हो जाएं और सारे संसार में उथल-पुथल मच जाय—

'दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥
समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः ।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः ॥
यदि न प्रणयेद् राजा दण्डं दण्ड्येष्वतन्द्रितः ।
शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन् दुर्बलान् बलवत्तराः ॥
अद्यात् काकः पुरोडाशं श्वा च लिह्याद्धविस्तथा ।
स्वाम्यं च न स्यात् कस्मिंश्चित् प्रवर्त्तेताधरोत्तरम् ॥

"वेदाविरोधि चेत् तन्त्रं तत्प्रमाणं न संशयः ।
प्रत्यक्षश्रुतिरुद्धं यत् तत्प्रमाणं भवेन्न च ॥ —श्री देवी भागवत

क्षुभ्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन् सर्वसेतवः।
सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद् दण्डस्य विभ्रमात् ॥ (मनु० ७/१८, २१, २४)

राजा को दण्ड का यथोचित विधायक, सत्यवादी, विचारपूर्वक कर्त्तव्यपरायण, बुद्धिमान्, धर्म, अर्थ एवं काम का ज्ञाता होना चाहिये, जैसा कि मनु ने ही आगे स्पष्ट कहा है—

तस्याहुः सम्प्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् ।
समीक्ष्य कारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥' (मनु० ७/२६)

दण्ड बड़ा तेजस्वी है। अजितेन्द्रिय लोग ठीक-ठीक उसका विधान नहीं कर सकते। वह धर्म विचलित राजा को बन्धु बान्धवों सहित नष्ट कर देता है। तथा दुर्ग, राज्य, स्थावर-जङ्गमजगत्, आकाशचारी देवगण, और ऋषिगण को भी पीड़ित करता है। राजा या शासक को न्यायपूर्वक अपने राज्य की प्रजा का पालन करना चाहिये। शत्रुओं को उग्र दण्ड देना चाहिये। मित्रों के साथ छल-कपट का व्यवहार नहीं करना चाहिये। प्रेमीजनों और सज्जनों के साथ सहिष्णुता रखनी चाहिये। ऐसे व्यवहार से सम्पन्न राजा भले ही कोषरहित हो, पर उसका यश वैसे ही फैलता है, जैसे जल पर तेल-बिन्दु। राजा को चाहिये कि वह पवित्र विद्वान् ब्राह्मण एवं वृद्धों की नित्य सेवा करे। ऐसा करने से राक्षस भी राजा का सम्मान करते हैं, तथा, उसे विनीतता (जितेन्द्रियता, नम्रता) भी प्राप्त होती है। अविनीतता (उद्दण्डता) सुसमृद्ध राजा को भी सपरिवार नष्ट कर देती है और विनीतता अरण्य में निवास करने वाले कोशविहीन राजा को भी पूर्ण समृद्ध बना देती है। शिकार, द्यूत, दिवास्वप्न, निद्रा, सभी मद् (नशा), नृत्य, गीत, वादित्र और व्यर्थ भ्रमण इन दश कामज व्यसनों तथा चुगली, साहस, द्रोह, ईर्ष्या असूया (गुणों में भी दोषदृष्टि), दूसरे का धन छीन लेना, गाली, गलौज और मारपीट—इन आठ क्रोधज व्यसनों से तथा इन दोनों के मूल लोभ से राजा को सदा बचना चाहिये। कामज व्यसन में मदिरापान, द्यूत, स्त्री और शिकार—ये चार तथा क्रोधज व्यसन में गाली गलौज, मारपीट और दूसरे का धन छीन लेना—ये तीन बहुत ही भयंकर हैं। इनसे तो सर्वथा बचना ही चाहिये।

अत्यन्त सुकर कर्म भी एक असहाय पुरुष के द्वारा दुष्कर होता है। अतः राजा को शास्त्र-ज्ञानी, शूर, लब्धप्रतिष्ठ, कुलीन, सुपरीक्षित सात या आठ मन्त्री रखने चाहिए। सन्धि, विग्रह, सेना, खजाना, खेती, खान, प्रतिरक्षा आदि के विषय में पृथक् पृथक् प्रत्येक की राय जानकर विद्वान् ब्राह्मण के साथ विचारपूर्वक निर्णय करना चाहिये। राज्य का कार्य जितने लोगों से अच्छी तरह चल सके, उतने लोगों की परीक्षा करके उपमन्त्री बनाना चाहिये। खान, चुङ्गी और कर वसूल करने के लिए शूर, पवित्र निर्लोभ लोगों को और पापभीरु लोगों को घर आदि के प्रबन्ध सम्बन्धी काम में लगाना चाहिये। इसी तरह सर्वशास्त्रविशारद, इङ्गित, आकार और चेष्टा जानने वाले पवित्र, कुशल, कुलीन

"त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।
अतो धर्माणि धारयन् ॥" —ऋग्वेद-१-२२-१८

को दूत बनाना चाहिए। दूत अनुरक्त, पवित्र, चतुर, स्मृतिशाली, प्रतिभासम्पन्न, देश, काल-परिस्थिति का ज्ञाता, सुन्दर, निर्भीक और वाग्मी होना चाहिये।

सेनापति के अधीन चतुरङ्गिणी सेना, युद्ध तथा विनय सिखाना, राजा के अधीन खजाना और राज्य तथा दूत के अधीन सन्धि और विग्रह होते हैं। दो राजाओं में मेल कराना या मिले हुये राजाओं को परस्पर लड़ा देना, यह दूत का काम है। कृषक जैसे खेत में से घास को निकालकर धान्य की रक्षा करता है, उसी तरह राजा दुष्टों का निग्रह कर प्रजा की रक्षा करे। जैसे शरीर को कष्ट देने से प्राणों का क्षय होता है, उसी तरह राष्ट्र को पीड़ा पहुँचाने से राजा के प्राणों का क्षय होता है। जो राजा अज्ञानवश राष्ट्र को पीड़ा पहुँचाता है, वह अपने बन्धु-बान्धवों के सहित जीवन से भ्रष्ट हो जाता है।

राजा को लगानवसूली, नौकरों का मासिक वेतन, मन्त्री आदि को बाहर भेजना, किसी को हानिकर काम करने से रोकना, किसी काम को कराना, मुकदमों का निर्णय करना, अपराधियों को दण्ड, पापियों का प्रायश्चित, पाँच प्रकार के गुप्तचर, प्रजा का प्रेम या असन्तोष और अन्य राजाओं के व्यवहार, इन सब बातों पर भली भाँति विचार करना चाहिये। मध्यम (अपने और शत्रुदेश के बीच का राजा) का व्यवहार, विजिगीषु (अपने को जीतने के लिये आने वाला राजा) का कर्म तथा उदासीन और शत्रु की कार्यवाहियों पर पूरी दृष्टि रखनी चाहिये।

द्वादश राजन्य-मण्डल की चार मूल प्रकृतियाँ हैं - (१) मध्यस्थ, (२) विजिगीषु, (३) उदासीन और (४) शत्रु। अर्थात् इनके वश में रहने से सभी राष्ट्र वश में रहते हैं। आठ और प्रकृतियाँ हैं- मित्र, शत्रु-मित्र, मित्र-मित्र, अरि-मित्र, आकन्द, पार्ष्णिग्राह, आक्रन्दासार और पार्ष्णिग्रहासार। इन प्रत्येक की मन्त्री, राष्ट्र (प्रजा), दुर्ग, खजाना और शासनविभाग ये पाँच-पाँच प्रकृतियाँ होती हैं, इस तरह ६० प्रकृतियां हुईं और मूल १२ मिलकर ७२ हो गयों। अपनी चारों ओर की सीमा के राजा तथा उनके मित्रों को शत्रु समझना चाहिये। उनसे आगे के राजाओं को उदासीन समझना चाहिये। इन सबको साम, दान, दण्ड और भेद—इन प्रत्येक उपायों से अथवा सभी उपायों से सबको अथवा अधिक से अधिक जितने बने रह सकें, उनको मित्र बनाये रखना चाहिये। यद्यपि आज परिस्थिति बदली हुई है, तथापि रूपान्तर से यह शत्रु-मित्र की व्यवस्था आज भी अक्षुण्ण ही है।

सन्धि, विग्रह (लड़ाई), यान (चढ़ाई), आसन (किले के अन्दर बन्द रहना), द्वैधीभाव (भेद) और संश्रय (किसी बलवान का आश्रय) इन छः गुणों का बराबर विचार करना चाहिये। एक साथ काम करने से भूतकाल में हुये या भविष्य-काल में होने वाले हानि-लाभ को बाँट लेने की प्रतिज्ञा करना तथा पृथक् पृथक् काम करने से भूतकाल में होने वाले हानि लाभ को बांट लेने की प्रतिज्ञा

"न पूर्वाह्णमध्यन्दिनापराह्णानफलान्कुर्याद्यथाशक्ति धर्मार्थकामेभ्यः ॥"

—गौतमस्मृति ९ ४३

करना—ये 'सन्धि' के दो भेद हैं। शुद्ध सन्धिमूलक ही शान्ति होती है। आस्तिकता तथा धर्मप्रधानता के बिना सन्धियाँ अनेक हेतुओं से अव्यवस्थित रहती हैं। इसीलिए शान्ति भी अव्यवस्थित रहती है। अतः धर्मनिष्ठा तथा आस्तिकता ही शुद्ध सन्धि एवं स्थिर शान्ति का मूल मन्त्र है।

अपने विजय के लिये लड़ना और मित्र की हानि के निमित्त मित्र के शत्रु से लड़ना—ये विग्रह के दो भेद हैं। आपद्ग्रस्त शत्रु को देखकर उस पर अकेले चढ़ाई करना अथवा मित्र की सहायता से चढ़ाई करना—ये 'यान' के दो भेद हैं। सैन्यबल कमजोर देखकर किला में रह जाना अथवा मित्र के अनुरोध से किला में रह जाना ये 'आसन' के दो भेद हैं। सेना में फूट डाल देना अथवा दो मित्र राजाओं में फूट डाल देना—ये 'भेदनीति' के दो प्रभेद हैं। शत्रु से पीड़ित होकर किसी बलवान का आश्रय लेना, शत्रुपीड़ा न पहुँचाये इसलिये किसी बलवान् का आश्रय लेना—यह दो प्रकार का 'संश्रय' है।

सन्धि करने से भले ही थोड़ी तात्कालिक पीड़ा हो, किन्तु भविष्य में लाभ हो तो सन्धि अवश्य कर लेनी चाहिये। जब सारी प्रकृति सन्तुष्ट हो और कोष तथा युद्ध के साधन पर्याप्त हों, तब युद्ध करना चाहिये। जब अपनी सेना हृष्ट-पुष्ट-सन्तुष्ट हो और शत्रुसेना दुर्बल तथा असन्तुष्ट हो, तब भी युद्ध करना चाहिये। जब सेना, वाहन और कोष क्षीण हों तो शत्रु से समझौता की बातचीत करते हुये अपने दुर्ग में ही रहना चाहिये। जब राजा देखे कि शत्रु बलवान् है, तब अपनी सेना का दो विभाग कर एक विभाग लड़ाई पर भेजे और एक विभाग को शत्रु की सेना में भेज कर शत्रुसेना के लोगों को अपनी ओर मिला लेने का प्रयास करे। यदि राजा देखे कि शत्रु अब हमें जीत लेगा तो झट किसी ऐसे बलवान् धर्मात्मा राजा का आश्रय ले ले जो अपनी दुष्ट प्रजा और शत्रु को भी दण्ड दे सकता हो और गुरु के समान प्रत्येक प्रकार से उसकी सेवा भी करनी चाहिये। यदि उसका आश्रय लेने पर भी कोई लाभ न हो, अपितु हानि होने की सम्भावना हो तो बेखटके युद्ध ही करना चाहिए। गुण-दोष विचार कर भविष्य का निर्णय करने वाले, वर्तमान निर्णय में विलम्ब न करने वाले तथा भूत-कालिक शेष कार्य को शीघ्र ही पूर्ण करने वाले राजा को शत्रु-मित्र या उदासीन अभिभूत नहीं कर सकते।

मनु ने राजा का यद्यपि बहुत महत्त्व माना है, फिर भी उसे निरंकुश नहीं बताया। सर्व-प्रथम राजा पर ही धर्म का नियन्त्रण आवश्यक है। राजा के हाथ में जो दण्ड होता है, वह दूसरों पर ही नियन्त्रण नहीं करता वरन् धर्मविरुद्ध राजा को भी नष्ट कर डालता है, यह पीछे कहा जा चुका है। शुक्र के अनुसार भी राजा के लिये अमात्यों की अत्यन्त आवश्यकता कही गयी है। जो राजा मन्त्रियों के मुख से हिताहित की बात नहीं सुनता, वह राजा के रूप में प्रजा का धनहरण करने वाला

**"एतावान् सांख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया।
जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः॥" —श्रीमद् भागवत**

डाकू होता है—

हिताहितं न शृणोति, राजा मन्त्रिमुखाच्च यः स दस्यू राजरूपेण, प्रजानां धनहारकः ॥
(शुक्र, २/२४८)

शुक्र के अनुसार राजा को राज्य का कार्य चलाने के लिये पुरोधा, प्रतिनिधि, प्रधान, सचिव, मन्त्री, प्रणिधि, पण्डित, सुमन्त्र, अमात्य, दूत इन दस प्रकृतियों का सङ्ग्रह आवश्यक है। इनकी योग्यता एवं कार्यों का विस्तृत विवरण शुक्रनीति में है। किसी भी शासन-लेख पर मन्त्री आदि की स्वीकृति होनी चाहिये। उस पर मन्त्री, प्राड्विवाक, पण्डित और दूत को यह लिखना चाहिये कि यह ठीक लिखा गया है, सुमन्त्र को लिखना चाहिये कि इस पर पूर्ण विचार कर लिया गया है, प्रधान को लिखना चाहिये कि यह यथार्थ सत्य है, प्रतिनिधि को लिखना चाहिये कि यह अंगीकार करने योग्य है, युवराज लिखे कि यह स्वीकृत किया जाये, तब पुरोहित अपना मत लिखे कि यह मुझे सम्मत है। सबके अन्त में राजा लिखे कि यह स्वीकृत हुआ। अपने लेख के अन्त में सबकी मुहर लगनी चाहिये।

मन्त्री च प्राड् विवाकश्च, पण्डितो दूतसंज्ञकः। स्वाविरुद्धं लेख्यमिदं, लिखेयुः प्रथमं त्विमे ॥
अमात्यः साधु लिखितमस्त्येतत् प्राक् लिखेदयम्। सम्यग् विचारितमिति सुमन्त्रो विलिखेत्ततः ॥
सत्यं यथार्थमति च, प्रधानश्च लिखेत् स्वयम्। अङ्गीकर्त्तुं योग्यमिति, ततः प्रतिनिधिर्लिखेत्।
अङ्गीकर्त्तव्यमिति च, युवराजो लिखेत् स्वयम्। लेख्यं स्वाभिमतं चैतत्, विलिखेच्च पुरोहितः ॥
स्वस्वमुद्रा चिह्नितं च, लेख्यान्ते कुर्युरेव हि ॥ **(शुक्र, २/३५५-३५६)**

मन्त्रिमण्डल के लेखबद्ध युक्ति-सहित पृथक् मतों को लेकर विचार करना चाहिये, फिर जो बहु मत हो उसे स्वीकार करना चाहिये।

पृथक् पृथक् मतं तेषां, लेखयित्वा ससाधनम्। विमृशेत् स्वमतेनैव, कुर्याद् यद् बहु सम्मतम् ॥

जो राजा प्रकृति की बात नहीं सुनता, वह अन्यायी है। जो राजा प्रजा का रक्षक बनकर भी रक्षा नहीं करता, उस राजा को पागल कुत्ते के समान मार देना चाहिये—

अहं वो रक्षितेत्युक्त्वा, यो न रक्षति भूमिपः। स संहत्य निहन्तव्यः, श्वेव सोन्माद आतुरः ॥
(शुक्रनीति)

इस तरह भारतीय राजनीतिशास्त्रानुसारी शासक उच्छृङ्खल नहीं होता।

"को धर्मः सर्वधर्माणां भवतः परमो मतः।
किं जपन्मुच्यते जन्तुर्जन्मसंसार-बन्धनात् ॥" **—महाभारत**

रामराज्य की स्थापना से विश्वशान्ति

(स्वामी करपात्री जी ने पचास वर्षों तक राष्ट्र एवं धर्म की निःस्वार्थभाव से सेवा की। उन्होंने बड़े-बड़े यज्ञानुष्ठानों से लेकर अहिंसात्मक सत्याग्रह तक के माध्यम को अपनाया। उन्होंने वर्तमान वादों को अपूर्ण सिद्ध करते हुए उन्हें एकांगी बतलाया और भारतीय राजनीति एवं धर्म शास्त्रों के गहन-गम्भीर अध्ययनपूर्वक विश्व के रंगमंच पर रामराज्य का सांगोपांग राजनीतिकदर्शन प्रस्तुत किया। प्रस्तुत लेख में उन्होंने निरूपित किया है कि साम्यवाद-समाजवाद आदि के स्थान पर रामराज्य से ही विश्वकल्याण हो सकता है।)

वेदांतवेद्य, अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक, सर्वान्तरात्मा, सर्वशक्तिमान्, पूर्णतम पुरुषोत्तम ही श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्र दशरथनंदन के रूप में कौसल्या अम्बा के मङ्गलमय श्रीअङ्क में प्रकट हुए थे। भगवान रामचंद्र, अनंत, अद्भुत कल्याणगुणों के आगार थे। उनके शासनकाल में प्रजा सुखी, धर्म-निष्ठ, और दम्भविहीन थी। भय, शोक और रोग का नाम तक न था—'बरनाश्रम निज निज धरम, निरत वेद-पथ लोग। चलहिं सदा पावहिं सुखहि, नहिं भय शोक न रोग।' यद्यपि रामराज्य ६ लाख वर्ष पूर्व था, तथापि उसकी विशेषताओं के कारण आज भी उसकी प्रशंसा की जाती है। आबालवृद्ध—'दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज्य काहुहि नहिं व्यापा।' इस चौपाई को जानते हैं। बड़े-बड़े ओजस्वी-तेजस्वी शासक हुए पर सीतापति रामचन्द्र के समान अनंतकोटिब्रह्मांड में न तो कोई शासक हुआ और न होगा। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान रामचंद्र के शासनकाल में सभी वृक्ष सुन्दर पत्र, पुष्प फल, पल्लवों से सुशोभित रहते थे। पृथिवी अनंत धनधान्य से सम्पन्न थी, प्राणियों के जीवन पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि परिवारों से सनाथ थे। कुटुम्बियों में रोगों का आक्रमण भी नहीं होता था। अकालमरण होता ही नहीं था। शलभ, मूषक, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि का लेशमात्र भी भय न था। 'बयरु न कर काहू सन कोई।' परस्पर वैर न होने से वैरिभाव का अभाव ही था। रामराज्य सदा ही निष्कण्टक रहा, समस्त राष्ट्र ऋषियों, मुनियों तथा धर्मनिष्ठ हृष्ट-पुष्ट, रम्य, मणिरत्नादिभूषित सत्पुरुषों से भूषित था। व्रीहि, यव आदि सस्यों से परिपूरित क्षेत्रों से युक्त तथा प्रभूत स्वस्थ मनुष्यों और गोधनों से सुशोभित अयोध्या का साम्राज्य अद्वितीय ही था। नाना देवमन्दिरों तथा समृद्धियों से ग्राम शोभा पा रहे थे। शोभन पुष्पों से युक्त बड़े कृत्रिम उद्यानों में मधुर स्वाद वाले फलों से युक्त नाना प्रकार के

अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत्।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्॥ —चाणक्य

वृक्ष थे। कमल में कमलिनी तथा कुमुद-कुमुदिनियों से युक्त सरोवर निराली ही शोभा बढ़ाते थे। नदियां पवित्र निर्मल जल से भरपूर रहती थीं। प्रजा अत्यन्त ऋजुमार्गगामिनी थी, कुटिलगामिनी तो केवल नदियां ही थीं। 'विभ्रम' शब्द के प्रयोग का स्थान युवतियों का कटाक्ष ही था, विद्वानों में विभ्रम का अभाव था। 'तम' का व्यवहार कृष्णपक्ष की रात्रियों के सिवा कहीं भी पुरुषों में न था। 'रजा' भी रजस्वला के रज में ही प्रयुक्त होता था, मनुष्यों में रजोगुण का अभाव ही था। दण्ड भी आतपत्रों, यायतियों के हाथ में ही देखा जाता था। कोई भी प्राणी ऐसा काम ही नहीं करता था जिसके लिये दण्ड की आवश्यकता पड़े। जड़ की वार्ता घनीभूत जल में ही थी। दौर्बल्य स्त्रियों के कटिभाग में ही था। कठोर-हृदय सीमन्तिनियाँ ही थीं, औषधि योग में ही कुष्ट का योग था। मूर्तियों के हाथ में ही शूल था। कम्पन केवल प्रेमादि सात्विकभावों में था। किसी प्रकार के भय से किसी को कम्पन कभी भी नहीं होता था। ज्वर केवल काल से ही होता था। दरिद्रता केवल पाप की ही थी। प्रमत्त हस्ती ही थे। पुरुषों में प्रमाद का नाम भी नहीं था। दम्भ (मद) च्यवन हस्तियों ही में होता था। पुरुष कभी दान-हीन नहीं होते थे। तीक्ष्णता कण्टकों में ही थी। गुणों का विश्लेषण सिवा बाणों के, मनुष्यों में कहीं भी न था। दृढ़ बन्धन शब्द पुस्तकवेष्टन में ही था। प्राणियों के बन्धन की कोई चर्चा न थी। खलों में ही स्नेह त्याग था। ब्राह्मण वेदशास्त्रों के ज्ञाता एवं त्याग, तेजस आदि गुणों से सम्पन्न थे। क्षत्रियों में ओज, तेज, बल और वीर्य का आधिक्य था, वे शत्रुओं से राष्ट्र की रक्षा किया करते थे। वैश्य अनन्त धन-धान्य सम्पन्न थे। वे अपनी पूंजी से देश-धर्म और गरीबों की सेवा किया करते थे। शूद्र शिल्पनिष्ठ और सेवापरायण थे। कृषक बड़े ही सुन्दर और बलवान होते थे। गायें दोग्ध्री होती थीं।

रामराज्य में पापपुञ्ज भी भस्म

ऐसे सुन्दर राज्य में आसीन होकर श्रीरामचन्द्रजी प्रजाओं का पालन करते थे। उनके गुप्त-चर नियम से समस्त राष्ट्र की भावनाएं जानने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। एक दिन गुप्तचर सुनते हैं कि कोई एक मृगलोचना युवती अत्यन्त हर्ष से अपने स्तनन्धय पुत्र से कहती है, कि 'पुत्र !अतिमनोहर मेरे स्तन्य (दुग्ध) का खूब पान कर लो। अब यह पयोधरपान दुर्लभ हो जायेगा, क्योंकि अयोध्यानाथ नीलाम्बुजश्यामल रामचन्द्र की पुरी में जन्म ग्रहण करके फिर प्राणियों का जन्म नहीं होता। अतः जिसका जन्म ही न होगा, वह पयोधरपान कैसे करेगा ? और जो प्राणी श्रीरामचन्द्र का स्मरण और ध्यान करेंगे, उनके लिये भी यह पयःपान दुर्लभ ही होगा।' वास्तव में दुर्लभ होगा, क्योंकि भगवान की मधुर-मनोहारिणी दिव्य मूर्ति के चिंतन करने से, ध्यान करने से, जन्मजन्मांतर, युग-युगांतर और कल्प-कल्पांतर के पापपुञ्ज भस्म हो जाते हैं। फिर आवागमन का झगड़ा ही जब नहीं रहता, तब पयःपान

श्रद्धापूर्णाः सर्वधर्मा मनोरथफलप्रदाः ।
श्रद्धया साध्यते सर्वं श्रद्धया तुष्यते हरिः ॥ बृहन्नारदीय-पू० भा०४/१

कैसा ? भावुक कवियों ने बड़ी सुन्दर उत्प्रेक्षा की है—

अय क्षीराम्भोधेः पतिरिति गवां पालक इति श्रितोऽस्माभिः क्षीरोपनयनधिया गोपतनयः।
अनेन प्रत्यूहो व्यरचि सततं येन जननीस्तनादप्यस्माकं सकृदपि पयो दुर्लभमभूत् ॥

अर्थात हमने तो यह सोचकर श्रीकृष्णचन्द्र की शरण ली थी कि ये क्षीरसागर के स्वामी, गायों के पालन करने वाले और गोपुत्र हैं, इसलिए मनचाहा दूध पीने को मिलेगा, किंतु इन्होंने तो ऐसा विघ्न डाला कि हमें एक बार माता के स्तन का भी दूध मिलना दुर्लभ हो गया। अस्तु, रामराज्य की यह भी सबसे बड़ी विशेषता थी कि सभी धर्मनिष्ठ भगवत्परायण होते थे और उनकी मुक्ति में कुछ भी सन्देह नहीं होता था।

रामराज्य सबके लिए कल्यणाप्रद

वस्तुतः रामराज्य, धर्मराज्य और ईश्वरराज्य एक ही वस्तु है। रामराज्य की स्थापना के लिये ही अखिल भारतीय रामराज्य-परिषद बनाई गई है। रामराज्य-परिषद में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि सभी जातियों के लिये मार्ग खुला है। रामराज्य सबके लिये कल्याणप्रद था। यदि कहा जाय कि राम तो इस समय नहीं हैं, फिर रामराज्य कैसा ? तो उत्तर यही है कि अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक, सर्वाधिष्ठान, स्वप्रकाशपूर्णतम, पुरुषोत्तम परब्रह्म का अभाव कभी हो नहीं सकता और भगवान रामचंद्र परब्रह्म के ही अवतार थे। अतः रामराज्य ईश्वरराज्य ही है। इसलिये वह मुसलमान आदि सभी के लिये कल्याणप्रद है। जो लोग पूर्वमीमांसक आदि, ईश्वर को नहीं मानते, पर धर्म मानते हैं, उनके लिये भी रामराज्य कल्याणकारक है, क्योंकि 'एष विग्रहवान् धर्मः' राम धर्म के ही स्वरूप हैं और धर्म को मानने वालों के लिए धर्मराज्य इष्ट ही है। जो धर्म भी नहीं मानतें, केवल 'जितेन्द्रियता, सच्चरित्रता, निष्पक्षता, न्यायपरायणता आदि नैतिक गुणों को ही उपादेय मानते हैं, उनके लिये भी रामराज्य ही आदर्श है। क्योंकि राम के समान जितेन्द्रिय, सदाचारी, सच्चरित्रवान्, निष्पक्ष न्याय देने वाला शासक जिस राज्य में हो, वही रामराज्य माना जाता है। क्या किसी को यह इष्ट हो सकता है कि हमारा मन्त्रिमण्डल, प्राइममिनिस्टर अथवा गवर्नरजनरल या हमारी जनता इन्द्रियों की गुलाम हो, कामिनी-काञ्चन की किंकर हो ? कभी नहीं। जहां अजितेन्द्रिय, स्वार्थपरायण शासक रहेंगे, वहाँ जनता में घूसखोरी और चोरबाजारी बन्द नहीं हो सकती, व्यभिचार, दुराचार मिट नहीं सकते। यदि शासक जितेन्द्रिय होगा तो उसका यह प्रयत्न होगा कि हमारी प्रजा भी जितेन्द्रिय सदाचारपरायण और सच्च-रित्र हो। इसलिये राम, ईश्वर, अल्ला, धर्म, सदाचारादि में विश्वास रखने वाले सभी रामराज्य-परिषद में सम्मिलित होकर अपना कल्याण कर सकते हैं। मेरा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि वर्तमान

धर्मेण राज्यं विन्देत धर्मेण परिपालयेत् ।
धर्ममूलां श्रियं प्राप्य न जहाति न हीयते ॥ विदुर २/३१

नेताओं या सरकार को पदच्युत करके ही रामराज्य की स्थापना की जाय। महान तप एवं बलिदान के
पश्चात ही वर्तमान सरकार बनी है। जनता ने अपने वोटों से सरकार को बनाया है, इसलिये सरकार
का अनिष्ट सोचना कभी भी अच्छा नहीं। अपना लगाया हुआ विषवृक्ष भी काटते समय दुःख का
कारण बनता है, फिर अपनी बनाई हुई सरकार के कल्याण की शुभकामना कौन बुद्धिमान प्राणी न
करेगा ? अपने खून से जिस स्वतन्त्रतारूपी वृक्ष का रोपण किया, सिञ्चन किया, उसे हरा-भरा बनाया
क्या उसे काट डालना उचित है ? कभी नहीं। आज अपनी सरकार है, उसमें अपने ही ताऊ, चाचा, पुत्र,
पौत्र गये हैं, अतः उसे पदच्युत करने की भावना, उसके विनाश की भावना कभी भी अच्छी नहीं।
यद्यपि सरकार दूध की धोई नहीं है, उसके अन्दर बहुत से दोष हैं, तथापि उसके विनाश की कामना
न करनी चाहिये। नाक पर फुंसी हो जाने पर नाक काटी नहीं जाती, बल्कि उसका उपचार किया
जाता है, इसी प्रकार सरकार के भी दोषों का मार्जन ही होना चाहिये। अगर किसी भी सूरत में
सरकार पसन्द न आये तो विध्वंसात्मक कार्यों की आवश्यकता नहीं। रेलगाड़ी उलटने, तार-टेली-
फोन की लाइन काटने एवं बम-विस्फोट आदि उपद्रवों से जनता का ही नुकसान होता है, अपने ही भाई
बन्धु मरते हैं, इसलिये कभी भी ऐसे कार्यों का समर्थन नहीं किया जा सकता। सरकार को बदलना
ही इष्ट हो तो निर्वाचन का द्वार सबके लिये खुला है। जनमत अपने अनुकूल बनाकर अपनी सरकार
बना लेना चाहिये। रामराज्य-परिषद का कभी भी यह लक्ष्य नहीं कि वर्तमान सरकार फेल हो जाय।
उसका तो यही लक्ष्य है कि सरकार को हर प्रकार से सहयोग दिया जाय, परन्तु समय-समय पर नेक
सलाह देना और सरकार को गलत मार्ग से हटाकर अन्याय और अत्याचार से रोकना भी परिषद का
इष्ट है। वर्तमान शासक और जनता राम के सदृश सदाचारी और सच्चरित्र बन जाय, बस, रामराज्य
हो गया। रामराज्य में लोकतन्त्र का बड़ा आदर था।

रामराज्य में लोकाराधन की प्रधानता

रामचंद्रजी जो भी कार्य करते थे उसमें लोकमत का पूर्ण ध्यान रखते थे। लोकमत के
सामने अपने सुख की परवाह नहीं करते थे। लोकाराधन के लिये ही राम ने सीता जैसी परमसाध्वी
सती पत्नी का परित्याग कर दिया। रामचन्द्र से पहले भी सगर आदि कितने ही राजाओं ने लोक-
विरुद्ध अपने पुत्रों का भी त्याग कर दिया था। महाराज श्री दशरथ ने रामचन्द्र को यौवराज्यपद देना
उचित समझा, फिर भी प्रजा से पूर्वसम्मति ली गई। स्पष्ट कहा गया कि यदि अन्य लोग उचित
समझे हों तो ऐसा किया जाय, अन्यथा जैसा कहें वैसा ही किया जाय। आप लोग निःसंकोच होकर
अपना मत व्यक्त करें। रामचन्द्र के गुणगणों पर समस्त प्रजा मुग्ध थी ही। उसने बड़े हर्ष के साथ
राजा के इस कार्य का समर्थन किया।

त्यजेद्धर्मं दयाहीनं विद्याहीनं गुरुं त्यजेत् ।
त्यजेत्क्रोधमुखीं भार्यां निःस्नेहान्बान्धवांस्त्यजेत् ॥ —चाणक्य

रामराज्य में साम्यवाद का अन्तर्भाव

रामराज्य में साम्यवाद का भी सम्मान था। शास्त्र परतन्त्र पूंजीपति सम्राट् एवं साधारण कोटि के लोगों में भी लोकहित, दान और अतिथि सत्कार आदि की व्यापक प्रथा थी। साधारण कोटि के लोग भी यथाशक्ति लेने से बचते थे और सर्वदा देने को प्रस्तुत रहते थे। बड़े-बड़े धनीमानी भी ज्योतिष्टोमादि यज्ञों से अपने धन का व्यय करके लोकहित करते थे। सर्ववेदस् यज्ञों में सर्वस्वदान का विधान था। जिसके तीन वर्ष के भृत्यभरण के लिये पर्याप्त धन हो उसके लिये ज्योतिष्टोम यज्ञ का करना अनिवार्य था। यज्ञ में श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्र ने अपने समस्त भूमण्डल का दान कर दिया था। महाभागा वैदेही के हाथ में सौमङ्गल्यसूत्र ही रह गया था—'वैदेही च महाभागा सौमङ्गल्यावशेषिता।'

इस तरह लूट-खसोट के बिना सर्वत्र अनायास ही साम्यवाद का भी विस्तार हो जाता था। भेद यही था कि आज एक दूसरे की सम्पत्ति लूट-खसोटकर छीनना चाहते हैं, सम्पत्ति वाले शोषण में ही प्रयत्नशील रहकर कुछ भी देना नहीं चाहते। शास्त्रीय धर्मनियन्त्रित राजतन्त्रवाद में लेने से सभी बचना चाहते थे और देने की रुचि सबके ही मन में रहती थी। यज्ञों में अन्न, वस्त्र, रत्न आदि वस्तुओं का खूब दान होता था। उस समय सभी याचक अयाचक हो जाते थे। इस तरह रामराज्य अथवा धर्म-नियन्त्रित राजतन्त्रवाद में साम्यवाद का भी अन्तर्भाव हो जाता था। रामराज्य में यह विशेषता थी कि शासकों पर गुरुओं, महर्षियों एवं ब्राह्मणों का नियन्त्रण था। शास्त्र, धर्म एवं ईश्वर का भय सबके ही ऊपर रहता था।

करग्रहण भी प्रजाहितार्थ

श्रुतियों में अत्यन्त उग्र और बलवान क्षेत्र का भी नियन्त्रण धर्म द्वारा कहा गया है। इस तरह शास्त्रीय धर्मनियंत्रित राजतन्त्रवाद अथवा रामराज्य में अपेक्षित सभी वादों का अन्तर्भाव हो जाता था। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र जी सूर्य के समान सम्यक् देदीप्यमान थे। वे अग्नि के समान तेजस्वी एवं अप्रधृष्य थे, चन्द्रमा के समान आह्लादजनक, इन्द्र के समान ऐश्वर्यप्रद एवं यमराज के समान उग्र और दुराधर्ष थे। जैसे सूर्य तीक्ष्णरश्मियों से जल को सींचता है वैसे ही रामचन्द्र प्रजाओं से करसंग्रह करते थे। दो इङ्गालकार के समान प्रजाओं की रक्षा का ध्यान न करके करसंग्रह करने से प्रजा उजड़ जाती है। जैसे मधुकर पुष्प को हिंसा न करके मधुसंग्रह करता है वैसे हो प्रजाओं का हिंसन न करके उनसे करग्रहण करना उत्तम मधुकरवृत्ति है। जैसे सूर्य ग्रीष्मकाल में जल का आकर्षण करके भी अपने यहाँ संग्रह नहीं करते, किन्तु समय पर वर्षा करने के लिए ही ऐसा करते हैं वैसे ही तीक्ष्णता से करग्रहण करके भी रामचन्द्र उसका उपयोग प्रजा के हित के लिए करते थे। वास्तव में

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
धर्मः परोपकरणमधर्मः परपीडनम् ॥

ऐश्वर्य के प्रलोभन से प्राचीन राजाओं की शासन में प्रवृत्ति नहीं होती थी। शासन को सुख-साधन नहीं समझा जाता था, अपितु राजमुकुट को काँटे का ताज समझा जाता था। अजितेन्द्रिय के लिए शासनभार दुरावह समझा जाता था, तभी तो दशरथ उस भार को रामचन्द्र पर डालते थे और वे भरत पर डालना चाहते थे, लक्ष्मण भी उस भार को स्वीकृत करना नहीं चाहते थे। रामचन्द्र सोचते थे कि हम लोगों के छत्र-सिंहासनादि राजोपकरणादि में बहुत-सा धनव्यय होता है। इसलिए वल्कल-वसनधारी, वन्यफलाशी, वीतराग महर्षि ही पृथ्वीपति होने योग्य है। क्योंकि ये लोग प्रजाओं की समस्त सम्पत्तियों को उन्हीं के सुख में लगायेंगे, परन्तु ब्राह्मणगण भी यही समझते थे कि हम तपस्या द्वारा कहीं अधिक प्रजा का पालन कर सकते हैं।

पहले और आज

रामराज्य में सभी को सस्ता न्याय, औषधि, रोटी, कपड़ा सुलभ था। सभी को लेखन और भाषण स्वातंत्र्य प्राप्त था जैसा कि धोबी और कुत्ते की कथाओं से सिद्ध है। रामराज्य में एक धनी-मानी विद्वान ब्राह्मण के मुकाबले कुत्ते को न्याय मिला था पर आज गोमाता को भी न्याय मिलना दुर्लभ हो गया है। आज न्याय माँगने वाले को जन-सुरक्षा (पब्लिक सेफ्टी एक्ट) के नाम पर जेलों में ठूँस दिया जाता है और मुकदमा भी नहीं चलाया जाता। धर्मप्राण भारतवर्ष की सरकार का अपने को धर्मनिरपेक्ष घोषित करना, हिन्दुस्थान का नाम 'इण्डियन यूनियन' रखना लज्जा की बात है। हिन्दू अपने को हिन्दू न कहें इससे बढ़कर और अनर्थ क्या हो सकता है? सरकार को सोचना चाहिए कि जनता ने उसे किसलिए बनाया है?

बलिदान का पुरस्कार

स्वतन्त्रता संग्राम में कितने बलिदान हुए थे, कितने होनहार नौनिहालों ने अपनी माताओं की गोद और पत्नियों की सेज सूनी कर दी और कितने ही गाँव वीरान हो गये, पर अन्ततः भगवान की कृपा से देश स्वतन्त्र हो गया। अपनी निजी सरकार बनी, जनता को उससे बड़ी-बड़ी आशाएं थीं कि अब हम धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक सभी क्षेत्रों में अपनी हर प्रकार की उन्नति कर सकेंगे, परन्तु वर्तमान सरकार का रवैया देखकर जनता की सारी आशाओं पर पानी फिर गया। जनता को कभी भी यह विश्वास नहीं था कि सरकार हमारे त्याग-बलिदान के बदले में हिन्दू-कोड जैसा उपहार प्रदान करेगी।

उच्छिष्ट राजनीति का अन्धानुकरण

रामराज्य में कभी भी जनमत का अनादर नहीं हुआ। परन्तु आज जनमत को पाँवों तले

युगेष्वावर्तमानेषु धर्मोऽप्यावर्त्तते पुनः।
धर्मेष्वावर्तमानेषु लोकोऽप्यावर्त्तते पुनः॥

रौंदा जा रहा है। कोडबिल की माँग जनता ने कभी नहीं की, पर उसे पास करने में सरकार उतावलापन दिखला रही है और गोहत्या बन्दी की माँग को ठुकरा कर जनता के हृदय पर ठेस पहुँचायी जा रही है। स्वतंत्र भारत का विधान बन रहा है, पर नकल की जा रही है अमेरिका, इङ्गलैण्ड, फ्रांस आदि पाश्चात्य देशों की। क्या भारत का अपना कोई विधान ही नहीं? कौटिल्य अर्थशास्त्र, बृहस्पति-नीति, शुक्रनीति, कामन्दकीय आदि ऐसे-ऐसे ग्रंथ हमारे यहाँ भरे पड़े हैं जिनमें उच्चकोटि के राजनीतिक विधानों का वर्णन है। आज भी रूस जैसा साम्यवादी राष्ट्र हमारे धर्मराज्य और रामराज्य का स्वरूप जानने के लिए महाभारत, रामायण आदि ग्रंथों का अनुवाद कर रहा है परंतु हमारे यहाँ पाश्चात्यों की उच्छिष्ट राजनीति का अन्धानुकरण करके अन्तर्राष्ट्रीय जगत में भारत का राजनीतिक दिवालियापन सिद्ध किया जा रहा है। हिन्दुस्तानी भाषा द्वारा खिचड़ी संस्कृति को जनता के सामने रखकर उसे गुमराह किया जा रहा है। ये सभी सरकार के गलत कदम हैं। इसी प्रकार कम्युनिस्टों, सोशलिस्टों की बातों को मानकर काम, दाम, आराम बराबर करना, होटल में खाने और अस्पताल में मरने का कुत्सित आदर्श को रखना, व्यक्तिगत सम्पत्ति का अन्त करना आदि योजनाएँ भी अनुपयुक्त ही हैं। क्योंकि इससे हमारे यज्ञ-यागादि, दान, धर्म आदि लुप्त हो जायेंगे। कल्पना कीजिए—'कहीं आज की लोकतन्त्रात्मक सरकार न रही (भगवान करे ऐसा न हो), कोई विदेशी कठपुतली सरकार आ गयी तो वैसी स्थिति में जनता को चुपचाप उसके अत्याचारों को बिना ननु-नच किये सहन करना पड़ेगा, क्योंकि उसके पास विरोध के लिए कोई साधन न होगा। इसलिए व्यक्तिगत सम्पत्ति का अन्त भी भविष्य के लिए अच्छा न होगा। देश का सर्वविध कल्याण रामराज्य के आदेशानुसार चलने से ही हो सकता है।

रामराज्य-परिषद् के उद्देश्य

रामराज्य की स्थापना के लिए ही यह रामराज्य-परिषद् बनाई गई है जिसका आदर्श भारत-भूमि में रामराज्य की स्थापना करना है। रामराज्य में सर्वसाधारण का हित, शांति और सदाचार को सामने रखने वाले पक्षपातरहित सभी देशवासियों के धर्म, संस्कृति, सभ्यता, हित तथा न्याय की रक्षा होगी। प्रत्येक नर-नारी और बच्चे को अल्प मूल्य में भोजन, कपड़ा, औषधि, निवास गृह तथा न्याय सुलभ होगा। हर एक वर्ग दूसरे के पूरक होंगे। यदि कोई वर्ग अपने धर्म से भ्रष्ट हो गया तो उसका विनाश न करके उसके दुर्गुणों को दूर करने का प्रयत्न किया जायेगा।

रामराज्य में जनतन्त्र सुदृढ़ और प्रतिष्ठित होगा। रामराज्य-परिषद् सर्वत्र शांतिपूर्ण तथा वैध उपायों द्वारा अखण्ड भारत की स्थापना करने का प्रयत्न करेगी। भारतभूमि में चक्रवर्ती राज्य स्थापित करना और इसी उद्देश्य में केन्द्रीय सरकार का प्रभुत्व अक्षुण्ण रखते हुए यथासम्भव प्रांतीय

यत् परम्पराप्राप्तमन्यदपि धर्मबुद्धया कुर्वन्ति तदपि स्वर्ग्यत्वाद्धर्मरूपमेव।

—भट्टपाद कुमारिल तन्त्रवार्तिक में

स्वाधीनता की स्थापना का प्रयत्न किया जायेगा । रामराज्य में ऐसा स्वराज्य स्थापित किया जायगा जिसके मूलभूत सिद्धांत भारतीय होंगे । जिसमें शासक और शासन सब पर व्यापक अर्थ में धर्म का नियन्त्रण होगा और जिसकी राजनीति, अर्थनीति, शिक्षानीति आदि धर्म-भावना से अनुप्राणित होंगे। रामराज्य में विश्वहित एवं विश्वशांति का ध्यान रखते हुए भारत राष्ट्र के विविध अभ्युदय का प्रयत्न किया जायगा । विदेशों के साथ सम्बंध बढ़ाया जायगा और वहाँ के दूतावासों को भारतीय संस्कृति का प्रतीक बनाया जायगा । सभी प्राणी परमेश्वर की सन्तान तथा परमेश्वर के अंश हैं, इस भावना के साथ सबकी सहज भ्रातृता, समता एवं स्वतन्त्रता उद्बुद्ध की जायगी । जाति, सम्प्रदाय एवं धर्मगत पक्षपात के बिना प्रत्येक व्यक्ति तथा समूह के राजनीतिक, आर्थिक, अभ्युदय का प्रयत्न किया जायगा । श्रमिक, कृषक, व्यापारी, शिल्प तथा बुद्धिजीवी वर्गों में परस्पर के सहयोग और सद्-भावना के भाव उत्पन्न किये जायँगे ।

व्यापार में ईमानदारी का भाव उत्पन्न किया जायगा । धनिकों में यह भाव लाया जायगा कि उनका धन जनता की धरोहर है । मालिक और मजदूरों में सद्भावना तथा ममत्व स्थापित किया जायगा । पाश्चात्य उद्योगीकरण के दोषों से देश को बचाया जायगा । उद्योगों का विकेन्द्रीकरण करके ग्राम तथा घरेलू उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जायेगा । मुद्रा का प्रचलन सीमित रखकर वस्तुओं के आदान-प्रदान या विनिमय की प्रथा चलाई जायगी । किसानों को उपज के रूप में लगान चुकाने की सुविधा दी जायगी । खेती, उद्योग आदि भारतीय साधनों पर जोर दिया जायगा और उसके अनुसंधान प्रसार तथा विकास का प्रबन्ध किया जायगा । कृत्रिम आवश्यकताओं को कम करके जीवन में सादगी और संतोष का भाव पैदा किया जायगा । गाय, भैंस आदि पशुओं का पालन-परिवर्धनादि द्वारा आरो-ग्य और स्वास्थ्य के लिये घृत, दुग्धादि कृषि के लिये और पर्याप्त खाद उपस्थित की जायेगी । शारी-रिक बलवर्धन के लिये व्यायामशालाएँ खोली जायँगी । भौतिक जीवन के स्तर को धार्मिक संस्थाओं की सहायता से उच्च बनाने का प्रयत्न किया जायेगा । अन्त्यज तथा पिछड़े हुए वर्गों की उनके परम्परा-नुसार दशा सुधारने, रहन सहन, शिक्षण और स्वास्थ्य की उन्हें विशेष सुविधायें देने, उनके उपयुक्त उन्हें उच्च से उच्च पद देने और समाज की दृष्टि से उनका मान बढ़ाने, जीविकाओं का अपहरण न करके चमड़ों के व्यापार तथा अन्यान्य तदुपयोगी शिल्प उन्हें प्रदान किया जायेगा । शासन में ऐसी शासन-पद्धति प्रचलित की जायेगी जो उसके आधुनिक दोषों से मुक्त होगी । गांवों को शासन का आधार बनाया जायेगा । उनमें बिरादरी का प्राचीन महत्त्व जागरित किया जायेगा । पंचायतों को पुराने ढङ्ग पर संगठित किया जायेगा । राज्य को जनमत के अनुकूल बनाकर जनता और राज्य में मेल रखा जायेगा । रामराज्य में हिन्दी राष्ट्र भाषा होगी, पर साथ ही प्रान्तीय तथा वर्गों की भाषाओं की रक्षा

न कश्चिद्वेदकर्त्ताऽस्ति वेद स्मर्ता प्रजापतिः ।
तथैव धर्मं स्मरति मनुः कल्पान्तरान्तरे ॥ —पराशर-स्मृति

तथा उन्नति की जायेगी और प्राचीन भाषाओं के पठन-पाठन का अधिकाधिक प्रचार किया जायेगा। प्राचीन भारतीय कलाओं, विद्याओं तथा विज्ञान का उद्धार किया जायेगा। देशी चिकित्सा पद्धति का संरक्षण, प्रचार तथा उन्नति की जायेगी। मातृ शक्ति के गौरव को जागरित किया जायेगा। रामराज्य में सभी वर्गों के धार्मिक विश्वासों की रक्षा की जायेगी। अपने धर्म के अनुसार जीवन व्यतीत करने की सबको स्वतन्त्रता होगी, किसी के धर्म में कोई भी सरकारी हस्तक्षेप न होगा, सभी सम्प्रदायों के तीर्थों, देवस्थानों, उपासनागृहों, धार्मिक संस्थाओं की रक्षा की जायेगी, तत्तत् सम्प्रदायों के अपहृत धर्मस्थानों को ससम्मान परिवर्तन कराकर परस्पर सद्भावनाओं का विस्तार किया जायेगा। तत्तत् धर्मों एवं संस्कृतियों की तत्तत् सम्प्रदायों के धर्मग्रंथों एवं सम्प्रदायाचार्यों द्वारा की गई व्याख्या ही मान्य होगी। जनता और सरकार का कर्तव्य है कि परस्पर प्रेम और सहयोग से रामराज्य की स्थापना का प्रयत्न करें और चूंकि रामराज्य-परिषद की स्थापना रामराज्य स्थापन के लिये हुई है, एतावता उसे भी हर प्रकार का सहयोग पहुँचना चाहिये। परमेश्वर-प्रार्थना और धर्म के प्रचार और अनुष्ठान करने से ही यह योजना सफल बनाई जा सकती है और हमारा मार्ग भी प्रशस्त हो सकता है। सदिच्छा, सद्-बुद्धि, संगठन, सत्प्रयत्न से ही इन सभी कार्यों में सुविधा मिलेगी, अतः भगवत्प्रार्थना एवं अनुष्ठानों के साथ इन उपायों का भी अनुसरण आवश्यक है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ॥

श्रेयः साधनता ह्येषां नित्यं वेदात्प्रतीयते।
ताद्रूप्येण च धर्मत्वं तस्मान्नेन्द्रियगोचरः ॥

महान राजनीतिज्ञ आचार्य चाणक्य
के
नीतिसूत्रों में धर्म का महत्त्व

१. "मृगयापरस्य धर्मार्थौ विनश्यतः।"
मृगया (शिकार) के व्यसनी शासक का धर्म और अर्थ दोनों नष्ट हो जाते हैं। —(७१)

२. "यो धर्मार्थौ न विवर्धयति स कामः।"
अत्यन्त कामपरायणता धर्म और अर्थ को नष्ट कर देती है। —(१५६)

३. "धर्मेण धार्यते लोकः।"
संसार की धारणा (रक्षा) धर्म से ही होती है। —(२३३)

४. प्रेतमपि धर्माधर्मावनुगच्छतः।"
(मरने के बाद जीव के साथ उसके धर्म और अधर्म जाते हैं।) —(२३४)

५. "धर्माद्विपरीतं पापं यत्र यत्र प्रसज्यते, तत्र धर्मविमतिर्महती जायते।"
जहाँ जहाँ धर्म विरुद्ध कार्य होने लगता है वहाँ वहाँ धर्म का भयंकर अपमान होने लगता है अर्थात अधर्म का औचित्य जिम्मेदार व्यक्ति एवं संस्थाओं द्वारा घोषित किया जाता है। —(३३९)

६. "आत्मविनाशं सूचयत्यधर्मबुद्धिः।"
अधर्मबुद्धि आत्मविनाश की द्योतक है। —(२४१)

७. "न स्त्रैणस्य स्वर्गप्राप्तिः धर्मकृत्यञ्च।"
स्त्रीव्यसनी पुरुष न स्वर्ग पा सकता है न कोई धर्म कार्य ही कर सकता है। —(३१६)

८. "सर्वेषां भूषणं धर्मः।
सब का भूषण धर्म है। —(३६६)

९. "कदाचिदपि धर्मं निषेवेत।"
किसी भी परिस्थिति में धर्म का ही समाश्रयण करना चाहिये। —(४१४)

१०. "स्वधर्महेतुः सत्पुरुषः।"
अपना धर्म ही सत्पुरुषत्व में मुख्य कारण है। —(४४६)

११. "व्यवहारानुलोपो धर्मः।"
सत्पुरुषों के व्यवहार (सदाचार) से (दो पक्षों में संशय होने पर) धर्म का अनुमान करना चाहिये। —(५४०)

—धर्मसम्राट स्वामी करपात्री जी